मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर।

सं० १९९२
प्रथम संस्करण ३२५०
मूल्य ।=) छः आना

पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीहरिः

निवेदन

'तत्त्वविचार' मेरे सम्मान्य भाई श्रीज्वालाप्रसादजीके कुछ लेखोंका संग्रह है। मेरे ही आग्रहसे आपने प्रायः इन लेखोंको लिखा था और अब मेरे ही आग्रहसे बड़े संकोचमें पड़कर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी आज्ञा देनेके लिये आपको विवश होना पड़ा है। श्रीज्वालाप्रसादजी अपनेको लेखक नहीं मानते। और लेखककी हैसियतसे पाठकोंके सामने उपस्थित होनेमें अपनी अयोग्यता प्रकट करते हुए पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं। यह बात सत्य भी है कि वे लेखक नहीं हैं, वे विचारशील पुरुष हैं, और मेरे मतसे उनके सुन्दर विचारोंको पाकर कोई भी लेखक सुलेखक बन सकता है। पाठक इस पुस्तकमें प्रकाशित विचारोंको पढ़कर लाभ उठावें, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

मेरे कहनेपर श्रीज्वालाप्रसादजीने इसके लिये एक छोटी-सी संकोचभरी भूमिका लिख भेजी थी, परन्तु वह मुझको पसंद नहीं आयी। इसलिये उनके भावोंके साथ कुछ अपने भाव मिलाकर मैंने ही उपर्युक्त परिचय लिख दिया है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

विषयसूची

बाललीला

श्रीहरिः

तत्त्वविचार

ईश्वरतत्त्व

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेव
तस्मात्त्वमेव शरणं मम चक्रपाणे॥

(श्रीहरिशरणाष्टकात्)

जगत्में प्रायः सभी ईश्वरवादी हैं। कुछ लोग तर्कवाद या विद्या-बुद्धिके गर्वसे अनीश्वरवादको सिद्ध करनेका प्रयास करते देखे जाते हैं। परन्तु अन्तमें ईश्वरकी सत्ता सिद्ध हो ही जाती है। यदि कोई कहे कि मेरे मुखमें जीभ नहीं है तो उसका यह कहना निराधार है, क्योंकि उसके बोलनेसे ही जीभका होना सिद्ध है। इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि मेरे पिता हुए ही नहीं तो उसका यह कथन भी निराधार ही होगा; क्योंकि जब वह है तो

अवश्य ही उसका जन्मदाता भी स्वतःसिद्ध है, चाहे वह उसको जाने या न जाने। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें है। जब कोई मनुष्य किसी घने जंगलमें जाकर देखता है कि वहाँ एक सुन्दर मन्दिर बना हुआ है और उसके समीप एक सुरम्य वाटिका लगी है, जिसमें नाना प्रकारके फल-फूलोंके वृक्ष यथास्थान सुव्यवस्थित हैं, तथा जिसके एक ओर एक चिड़ियाखाना भी है, जिसमें विभिन्न प्रकारके पशु-पक्षी अलग-अलग विभागोंमें पिंजड़ोंमें बन्द हैं, ऐसी अवस्थामें उसे यह मानना ही होगा कि इन सबका बनानेवाला कोई अवश्य है। नियमित और सुव्यवस्थित कर्मके देखनेसे ही कर्त्ताका अनुमान होता है, यह स्वाभाविक है।

प्राचीन वैदिक युगमें एक समय इस जगत्को देखकर कुछ ऋषियोंके मनमें शङ्का हुई थी, उस समय उन्होंने जो निर्णय किया था उसका वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद्में इस प्रकार है—

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति।
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

(श्वेता० उप० १।१)

अर्थात् ब्रह्मवादी कहते हैं, क्या ब्रह्म कारण है? हम किससे जन्मे हैं? किससे जीते हैं? और किसमें लीन होते हैं? हे ब्रह्मवेत्ताओ! बताओ वह कौन अधिष्ठाता है जिसकी व्यवस्थासे हम सुख-दुःखोंमें बर्तते हैं? इसके बाद स्थूल दृष्टिसे दीख पड़नेवाले

मूलकारणोंको प्रश्नकर्त्ता स्वयं शंकायुक्त शब्दोंमें कहता है और साथ ही उनका निराकरण भी करता है—

> कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
> भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
> संयोग एषां न त्वात्मभावा-
> दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
> (श्वेता० उप० १।२)

अर्थात् क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा अथवा पञ्चभूत कारण हैं, या जीवात्मा कारण है? यह बात विचारणीय है। इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये अनात्मपदार्थ जड हैं। और जीवात्मा भी सुख-दुःखमें लिप्त रहनेके कारण सर्वशक्तिमान् नहीं है।

'काल' शब्दका अभिप्राय यही है कि समस्त सृष्टिसम्बन्धी क्रियाएँ कालविशेषमें ही होती हैं; जैसे सभी वस्तुएँ अपनी ऋतुमें ही उत्पन्न होतीं, फलती-फूलतीं और नष्ट होती हैं। इसीलिये कारण-रूपमें कालका अनुमान किया गया है।

पदार्थोंके स्वभावसे ही जगत्में सारी क्रियाएँ होती देखी जाती हैं, जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है और जलका गलानेका इत्यादि; अतएव स्वभावको कारणरूपसे अनुमान किया गया है।

'नियति' शब्दका अर्थ है होनहार। जैसे कोई मनुष्य पूर्ण सावधानीसे चला जा रहा है, अचानक वज्रपातसे उसकी मृत्यु हो जाती है और लोग कह उठते हैं—'होनहार ही ऐसी थी।'

इसी प्रकार अकारण ही नियतिरूपमें समस्त क्रियाएँ होती हैं, नियतिको कारण कहनेवाले ऐसा बतलाते हैं।

बिना चेष्टाके जो काम अपने आप हो जाय उसे यदृच्छा कहते हैं, जैसे बिना किसी चेष्टाके किसी वस्तुका बीज किसी सुनसान स्थानमें पहुँचकर वृक्षके रूपमें उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार यदृच्छासे जगत्का अस्तित्व है। ऐसा यदृच्छाको कारण माननेवाले कहते हैं।

'भूतानि' शब्दसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पञ्च महाभूतोंका ग्रहण होता है और 'पुरुष' शब्द जीवात्माका द्योतक है।

इस प्रकार कालादिको कारणरूपसे अनुमान करके उसका निराकरण भी इसी श्लोकमें कर दिया गया है। अर्थात् ये सब जड़ होनेके कारण कर्त्ता नहीं हो सकते, तथा जीवात्मा चेतन होनेपर भी अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् एवं सुख-दुःखका भोक्ता होनेके कारण कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार मूलकारणका निश्चय न होते देख ऋषियोंने ध्यानमग्न होकर देखा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेता० उप० १।३)

अर्थात् तब उन लोगोंने ध्यानयोगमें मग्न होकर अपने गुणोंसे छिपी हुई परमात्मशक्तिको देखा, जो स्वयं काल, स्वभाव,

नियति, यदृच्छा, पञ्चभूत तथा आत्मारूप समस्त कारणोंके एक ही कारणरूपमें अधिष्ठित है ।

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगत्‌की उत्पत्तिमें मूलभूत अन्य सब कारणोंका निराकरण करके एकमात्र ईश्वरको ही आदिकारण सिद्ध किया है । इसपर यदि कोई कहे कि हम शास्त्रोंकी बात नहीं मानना चाहते, तो उसे तर्क और युक्तिद्वारा भी ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा । जो नास्तिक विचारवाले जगत्‌की उत्पत्तिका मूल कारण प्रकृति (Nature) को मानते हैं, ईश्वरको नहीं मानते, उनसे यह पूछा जा सकता है कि 'सृष्टि सुव्यवस्थित, नियमित और ज्ञानपूर्वक है अथवा अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक ?' इसका उत्तर यदि यह मिले कि वह अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक है तो यह सर्वथा असङ्गत होगा, क्योंकि लोकमें इसके विरुद्ध देखा जाता है । जगत्‌में कोई भी कार्य अव्यवस्थित नहीं है, बल्कि जिस वस्तुकी जहाँ आवश्यकता है वही वहाँ रक्खी गयी है । जीवोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे लेकर समस्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति सुव्यवस्थित और नियमित देखी जाती है । सूर्य, चन्द्र आदि समस्त ग्रहोंका एक निर्दिष्ट गतिमें बर्तना, उनका क्रमानुसार उदय-अस्त होना, ऋतुओंका नियमितरूपसे आना, अपने-अपने बीजसे वृक्ष और प्राणियोंका उत्पन्न होना, पाप-पुण्यका यथोचित फल यथासमय बलात् प्राप्त होना, ब्रह्माण्डके समस्त स्थावर-जङ्गम जीवोंके लिये जीवन-धारणोपयोगी जल, वायु, आहार आदिकी यथायोग्य व्यवस्था इत्यादि अनेक प्रकारकी सुव्यवस्थाएँ देखी

जाती हैं, जिनको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता और न उन्हें अनियमित ही कह सकता है ।

जो व्यवहार प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर और ज्ञानगोचर होता है उसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, तथा जो कार्य नियमित और सुव्यवस्थित होता है वह ज्ञानपूर्वक ही माना जाता है और इस प्रकार उसका कर्ता भी अवश्य होता है । क्योंकि अज्ञानपूर्वक और प्रकृतितः हुए कार्यमें व्यवस्था और नियम नहीं रह सकते । अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुव्यवस्थित और सुनियमित सृष्टि ज्ञानपूर्वक होती है । इस प्रकार प्रकृतिको सृष्टिका मूल कारण माननेवालोंको यह मानना पड़ेगा कि या तो प्रकृति (Nature) चेतन है या सचेतन ।

यदि प्रकृतिको चेतन मान लिया गया तो ईश्वरकी सत्ता स्वीकृत हो गयी । तब केवल नाममात्रका ही भेद रह जाता है अर्थात् नास्तिक उसी चेतन सत्ताको प्रकृति कहते हैं जिसे शास्त्र ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर प्रभृति नामोंसे पुकारते हैं । केवल नामभेदसे वास्तविक भेद नहीं माना जाता; क्योंकि जगत्में देश, जाति, भाषा और सम्प्रदाय-भेदसे सृष्टिकर्ताको अनेक नामोंसे सम्बोधन किया जाता है । और यदि पूर्वपक्ष प्रकृतिको चेतन न मानकर सचेतन मानता है तब भी अनीश्वरवाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि चेतनायुक्त प्रकृतिको स्वीकार करना सविशेष परमात्माको स्वीकार करना है । शास्त्र भी कहते हैं कि प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है, जड़-चेतनके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति है ।

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

(गीता १३ । २६)

अर्थात् हे अर्जुन ! जो कुछ भी स्थावर-जंगम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुआ ही समझ । तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धसे सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति है । अतएव सब प्रकारसे यह मानना पड़ता है कि सृष्टिका मूलकारण परमात्मा है ।

कोई-कोई मनुष्य ऐसा भी कहते हैं कि यदि ईश्वर है तो हम उसे देख क्यों नहीं पाते ? इसका उत्तर यह है कि जगत्‌में ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिनको हम प्रत्यक्ष नहीं देखते, पर उनकी सत्तामें निश्चितरूपेण विश्वास करते हैं । जैसे दूधमें व्यापक मक्खन, काष्ठमें स्थित अग्नि इत्यादिको हम प्रत्यक्ष नेत्रोंसे नहीं देखते, पर इनके अस्तित्वमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं होता और साधनके द्वारा हम इन्हें प्रकट करके प्रत्यक्ष भी देखते हैं । इस प्रकार जब सांसारिक वस्तुओंके प्रत्यक्ष न होनेपर भी उनका अस्तित्व माना जाता है तब ईश्वरके, जो युक्ति, अनुमान तथा शास्त्रसे सिद्ध है, अस्तित्वमें क्योंकर सन्देह हो सकता है ? साथ ही ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि साधनद्वारा ईश्वरका भी प्रत्यक्ष होता है ।

वस्तुतः अनित्य जागतिक पदार्थोंकी सत्ताके अनुरूप ईश्वर-की सत्ताको प्रमाणित करना ठीक नहीं है । क्योंकि जितने

जागतिक पदार्थ हैं, जिनकी सत्तामें हमें दृढ़ विश्वास है तथा जो इन्द्रियगोचर भी हैं वे सभी मायिक, अनित्य, परिणामी, क्षणभंगुर और नाशवान् हैं। इसके विपरीत ईश्वर नित्य, सत्य, अपरिणामी और अविनाशी है। ईश्वरके इस विलक्षण रहस्यको धीर ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। श्रीभगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

अर्थात् असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्का अभाव नहीं है, इन दोनोंका तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।

तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि एक परमात्मा ही इस दृश्य जगत्का आधार और स्वरूप है अर्थात् वही इसका अभिन्न-निमित्तोपादानकारण है। अभिन्ननिमित्तोपादानकारण उसको कहते हैं जो स्वयं निमित्तकारण भी हो और उपादानकारण भी। घटका उपादानकारण मिट्टी है, और निमित्तकारण कुम्भकार, चक्र आदि हैं। वस्तु जिससे बनती है वह उपादान कहलाता है। वस्तु कार्यरूप होती है और उपादान कारणरूप होता है; जैसे मिट्टीसे घट आदि बनते हैं, इसमें घट कार्य है और मिट्टी उपादान-कारण है। घट वास्तवमें मिट्टी ही होता है, क्योंकि कार्य कारणसे भिन्न अथवा विजातीय नहीं होता। निमित्तकारण उसे कहते हैं जिसकी सहायतासे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घटकी उत्पत्ति-में उपादानकारण मिट्टी है, परन्तु मिट्टी स्वयं घटरूप नहीं बन

जाती, बल्कि घटके बननेमें कुम्हार, चक्र आदिकी सहायता अपेक्षित होती है; अतएव यहाँ कुम्हार, चक्र आदि निमित्तकारण हैं। वेदान्तके अनुसार इस जगत्की उत्पत्तिमें परमात्मा स्वयं ही उपादान और निमित्त-कारण है, इसीलिये उसे अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण कहा जाता है। श्रुति कहती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(बृह० उप० ५।१।१)

अर्थात् वह परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मा पूर्ण है, यह जगत् (भी) पूर्ण है (क्योंकि) पूर्ण ब्रह्मसे (ही यह) पूर्णरूप जगत् निकलता है। यह पूर्ण जगत् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा-को लेकर (पूर्ण ब्रह्म परमात्मामें ही अनन्य भावसे स्थित रहनेके कारण) पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। तथा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छान्दो० उप० ३।१४।१)

अर्थात् 'यह सब ब्रह्म है क्योंकि उस ब्रह्मसे ही इस जगत्की उत्पत्ति है, उसीमें इसकी स्थिति है और उसीमें इसका लय होता है। अतएव शान्त होकर उस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।' इत्यादि अनेक वचनोंसे ईश्वर ही जगत्‌रूपमें प्रतीत होता है, यह बात सिद्ध होती है। परन्तु 'ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है' यह धारणा तत्त्वज्ञानके बिना नहीं हो सकती। तथापि शान्ति-पूर्वक विचार करनेसे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस जीव-का ईश्वरके साथ अनिर्दिष्ट कालसे एक अखण्ड सम्बन्ध चला आ

रहा है और उससे कोई भी जीव किसी प्रकार अलग नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ईश्वरका ही अंश है।

भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५ । ७)

अर्थात् इस देहमें जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। गो०तुलसीदासजीने भी कहा है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

इसीलिये जीव अज्ञातरूपसे ईश्वरको मानता हुआ साधारणतः उसकी ओर आकर्षित भी होता है। जैसे सोया हुआ पुरुष जाग्रत्-अवस्थामें व्यवहृत वस्तु अथवा विशेष सम्बन्धवाले मनुष्यका नाम अज्ञानतः भी कभी-कभी बोल उठता है, इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ता न माननेका अभिमान करनेवाला पुरुष भी जब विशेष आपत्तिमें ग्रस्त हो जाता है तो अनिच्छापूर्वक भी ईश्वरको पुकारने लगता है। एक नास्तिककी कहानी प्रसिद्ध है। एक बार वह जहाजमें बैठकर कहीं जा रहा था। उसी समय समुद्रमें एक भारी तूफान आया और वह जहाज डूबने लगा। तब तो उस नास्तिकके मुँहसे भी बरबस यह आवाज़ निकल पड़ी कि 'हे भगवन्! इस विपत्तिसे बचाओ।'

इस प्रकार सामान्यतः (इच्छा या अनिच्छासे) आस्तिक-नास्तिक सभी ईश्वरको माननेवाले ठहरेंगे। परन्तु वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो यथार्थरूपसे ईश्वरको माननेवाले बहुत कम मिलेंगे। क्योंकि जो लोग 'ईश्वर है' ऐसा कहते हैं, वे भी अधिकांशमें सचमुच ईश्वरको माननेवाले नहीं ठहरते। ईश्वरके माननेवालेके

प्रधान लक्षण हैं—पापाचरणसे निवृत्ति, सदाचरणमें प्रवृत्ति, ईश्वरमें प्रेम, दुःख और हानिमें उद्वेगशून्यता और अचल शान्ति। ये सब लक्षण अकृत्रिमरूपसे उसीमें मिलेंगे जो यथार्थतः ईश्वरको माननेवाला होगा। इस कसौटीपर प्रत्येक मनुष्य अपनी परीक्षा आप कर सकता है कि वह कहाँतक ईश्वरका माननेवाला है।

इस प्रकार निश्चय हो गया कि यद्यपि सामान्यतः सभी ईश्वरको मानते हैं परन्तु विशेषरूपसे उसे माननेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है। परन्तु विशेषरूपसे माननेवाले ही विशेषरूपसे ईश्वरकी ओर आकर्षित होते हैं। ईश्वरका सामान्य ज्ञान जीवको सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त नहीं करता, उसका विशेष ज्ञान ही परम कल्याणप्रद होता है। जैसे पारसके निकट रहनेपर और उसे पारस कहते रहनेपर भी जबतक उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका ज्ञान नहीं होता तबतक मनुष्यकी दरिद्रता बनी ही रहती है; जैसे ही उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका विशेष ज्ञान हुआ वैसे ही दरिद्रता भी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार परमात्माके विशेष ज्ञानसे दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

ईश्वरके प्रधानतः दो भेद माने जाते हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण स्वरूपको शुद्ध ब्रह्म, परमात्मा, केवल, चैतन्य आदि नामसे भी पुकारा जाता है। यह मायारहित और केवल है। श्रुति कहती है—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्ण-
मचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥
(मुण्डक० १ । ६)

अर्थात् जो न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसके न गोत्र है, न वर्ण है, न नेत्र हैं, न श्रोत्र हैं, न हाथ हैं, न पाँव हैं; वह नित्य, विभु, सबमें व्यापक, बहुत सूक्ष्म और अव्यय है। ऐसे सब भूतोंके मूल कारणको धीर पुरुष देखते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(१३ । १२)

अर्थात् जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा; वह आदिरहित परम ब्रह्म है, न उसे सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृतियाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं; परन्तु 'इत्थंभूत' रूपसे उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। वेद उसका परिचय 'नेति-नेति' शब्दोंसे कराता है, अथवा केवल 'अस्ति' (है) इस शब्दसे उसका परिचय कराया जाता है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
(कठ० ६ । १२)

अर्थात् परमात्मा वाणीसे, मनसे अथवा नेत्रसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह परमात्मा केवल 'अस्ति' अर्थात् 'है' इसके

अतिरिक्त कैसे उपलब्ध होता है ? इस प्रश्नका उत्तर इसके आगेकी श्रुति देती है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥
(कठ० ६। १३)

अर्थात् 'वह है', इस रूपसे तथा तत्त्वस्वरूपसे उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इस प्रकार अनुभव कर लिया तो उसका तत्त्वस्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप मन, वाणी आदि इन्द्रियोंसे अतीत है, किसीकी सामर्थ्य नहीं कि उसे पकड़ सके। श्रुति कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
(तैत्ति० उप० २। ४)

अर्थात् जहाँसे मन और वाणी उसको प्राप्त किये बिना ही लौट आते हैं। भला, अलौकिक वस्तुको पार्थिव वस्तुओंके द्वारा कोई कैसे जान सकता है ?

परम ब्रह्मके इस निर्गुण स्वरूपकी उपलब्धि होनेपर भी यह कथन नहीं बनता कि मुझे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है। इसी बातको श्रुति स्पष्टरूपसे कहती है—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥
(केन० २। १)

अर्थात् यदि तू समझता है कि मैं उसको पूरा-पूरा जानता हूँ तो निस्सन्देह तू ब्रह्मका स्वरूप अल्प ही जानता है। इसका स्वरूप जो तू जानता है और जो देवताओंमें है (वह भी अल्प

है)। तब मैं समझता हूँ कि तुझे अपना जाना हुआ अभी विचारने योग्य है। इस श्रुतिमें ऋषि अपने तत्त्वनिष्ठ शिष्यसे पूछता है कि क्या तुम्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है? शिष्य उत्तर देता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

(केन उप० २।२)

अर्थात् मैं यह नहीं मानता कि मैं ब्रह्मको पूर्णरूपेण जानता हूँ, न यही कि मैं उसे नहीं जानता, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ। हममेंसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है, वह मेरी इस बात-को जानता है कि मैं न तो उसे नहीं जानता और न जानता हूँ। ऐसे विलक्षण निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन क्यों नहीं हो सकता। इसका कारण भी श्रुति बतलाती है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।

(केन उप० १।३)

अर्थात् न वहाँ नेत्र पहुँचते हैं, न वाणी पहुँचती है, न मन ही पहुँचता है। हम नहीं समझते, नहीं जानते कि कैसे उसका उपदेश किया जाय? वह जाने हुएसे निराला है और न जाने हुएसे भी निराला है, यह हमने बड़ोंसे सुना है जिन्होंने हमारे लिये इसका कथन किया है।

ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर ज्ञाता ज्ञेयसे भिन्न नहीं रहता, अर्थात् परिच्छिन्न ज्ञाताकी अलग सत्ता नहीं रहती, केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है। उस समय न ज्ञाता रह

जाता है, न ज्ञेय और न ज्ञान, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। तब क्या रहता है? इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'ज्ञेयमात्र रहता है' अथवा 'ज्ञातामात्र रहता है'—दोनोंका भाव एक ही है। निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपमें सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत कोई भी भेद नहीं है। एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ, अथवा एक पशुका दूसरे अपनी ही जातिके पशुके साथ सजातीय भेद होता है। परमात्माके समान किसी दूसरे परमात्माके न होनेके कारण उसमें सजातीय भेद नहीं होता। दो विभिन्न जातिकी वस्तुओंमें जो पारस्परिक भेद होता है, उसे विजातीय भेद कहते हैं; जैसे मनुष्य और वृक्ष दोनों विभिन्न जातिके हैं, अतः इनका पारस्परिक विजातीय भेद है। परमात्मामें यह भेद भी नहीं है, क्योंकि परमात्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७। ७)

मनुष्यशरीरमें हाथ, पैर, सिर आदि तथा वृक्षमें मूल, डाली, पत्ते, फल, फूल आदि अनेक भेद होते हैं। अपने भीतर ही होनेवाले इस प्रकारके भेदको स्वगतभेद कहते हैं। परमात्माके अन्दर इस स्वगतभेदका भी अभाव है। इस प्रकार निर्गुण शुद्ध ब्रह्म तीनों प्रकारके भेदोंसे रहित है।

अब सगुण ब्रह्मका विचार किया जाता है। मायासहित ब्रह्मको सगुण ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि सत्त्व, रज, तम तीनों गुण ही मायाके स्वरूप हैं। इसलिये सगुण (गुणविशिष्ट) ब्रह्म माया-

युक्त ही माना जाता है। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद हैं—सगुण निराकार और सगुण साकार। परमात्माके सर्वव्यापक मायासहित स्वरूपको सगुण निराकार कहते हैं। सृष्टिके आदिमें उसीके सङ्कल्पसे सृष्टिकार्य आरम्भ होता है। जैसे—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(गीता ९।४)

अर्थात् मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माके अव्यक्तरूपसे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधारपर स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। श्रुति भी कहती है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(कठ उप० ६।१२)

अर्थात् 'सबको वशमें रखनेवाला, सब भूतोंका अन्तरात्मा, वह एक जो एकरूप (प्रकृति) को अनेक प्रकारका बनाता है, उसको जो धीर पुरुष आत्मामें स्थित देखते हैं उन्हींको सदा सुखकी प्राप्ति होती है, अन्योंको नहीं।' इस प्रकार जो परमात्मा अव्यक्त, सर्वव्यापक और इन्द्रियातीत है, जिसे 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (कठ उप० २।२०) अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् कहा जाता है, तथा जिसमें जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, वही

परमात्मा सगुण-निराकारस्वरूप है। अब सगुण-साकारस्वरूपका विवेचन किया जाता है।

परमात्माका जो स्वरूप मायासहित है तथा इन्द्रियोंके गोचर होने योग्य आकारवान् है उसे सगुण-साकारस्वरूप कहते हैं। जैसे—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

अर्थात् जिसका शान्त स्वरूप है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिसकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंका भी ईश्वर हैं तथा सम्पूर्ण विश्वका आधार हैं, जो आकाशके समान व्याप्त हैं, नीले मेघके समान जिसका वर्ण है, जिसके सम्पूर्ण अंग अतिशय सुन्दर हैं, जिसे योगिजन ध्यानके द्वारा प्राप्त करते हैं, उस सम्पूर्ण लोकोंके एकमात्र स्वामी, संसारके भयको दूर करनेवाले श्रीलक्ष्मीपति कमलनयन विष्णुभगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ।

इस प्रकारके सगुण-साकार रूपके, सम्प्रदाय और मतभेदसे, अनेकों नाम और रूप माने जाते हैं, जैसे ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश, दुर्गा आदि। भगवान्‌के इस रूपभेदका कारण भक्तोंके भावोंकी भिन्नता है। हिन्दू-सम्प्रदायमें भावकी ही प्रधानता है; इसलिये धातुमयी, पाषाणमयी, मृन्मयी, दारुमयी और मनोमयी

आदि जितने प्रकारकी मूर्तिकी उपासना की जाती है, सबमें भाव-की ही प्रधानता होती है। धातु या पाषाणकी पूजा नहीं होती। इसके वास्तविक रहस्यको न समझ सकनेके कारण कुछ लोग मिट्टी या पाषाणकी मूर्तिकी पूजामें शंका करते हैं। परन्तु वे लोग यदि पूजा और स्तुतिके मन्त्रोंके अर्थोंपर ध्यान दें तो सहज ही ज्ञान हो जायगा कि उनमें कहीं भी पाषाण, मिट्टी या धातुकी प्रशंसा नहीं होती। अतएव उपासक अपने हृदय (भाव) और वाणी (स्तवन) से जिसकी पूजा करता है वास्तवमें पूजा उसीकी होती है।

भगवान्‌के रूपकी सीमा बाँध लेना और यह कहना कि भगवान्‌का केवल एकमात्र यही स्वरूप है, कदापि उचित नहीं। कुछ साम्प्रदायिक भाववाले लोग अपने इष्टदेवके सिवा अन्य रूपोंकी निन्दा भी कर देते हैं, पर ऐसा करना बालकवत् अज्ञता है। जो पुरुष अपने इष्टदेव—भगवान्‌की प्रशंसा और दूसरेके भगवान्‌की निन्दा करते हैं वह वास्तवमें अपने ही इष्टदेवका तिरस्कार करते हैं। इस विषयकी एक आख्यायिका प्रसिद्ध है।

एक पिताके दो पुत्र थे। उन्होंने अपने पिताके दोनों पैरों-की सेवा अलग-अलग बाँट रक्खी थी। एक दिन दोनों अपने-अपने हिस्सेके पैरकी सेवा कर रहे थे कि संयोगसे एक पैर दूसरे पैरसे जा लगा और उस पैरकी सेवा करनेवाले लड़केने दूसरे पैरमें एक घूँसा जमा दिया और कहा कि 'तू मेरे सेव्य पैरमें क्यों आ लगा?' अपने सेव्य चरणको मार खाते देखकर दूसरे लड़केको-

भी क्रोध आ गया और उसने दूसरे पैरपर दो घूँसे जमा दिये । इस प्रकार परस्पर क्रोधित हो दोनों पुत्र अपने पिताके पैरोंको पीटने लगे । उन मूर्खोंके यह नहीं समझमें आया कि इस प्रकार वे अपने पिताका अनिष्ट कर रहे हैं । पैरोंमें चोट लगनेसे पिताने उनको रोका, तब दोनों पुत्रोंने अपनी-अपनी शिकायत कह सुनायी । पिताने उनकी मूर्खतापर अफसोस करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों ही जिसे सेवा समझते थे वह वस्तुतः सेवा न थी, बल्कि पारस्परिक द्वेषके द्वारा मूर्खतावश पिताका अनिष्ट किया गया था ।

इसी प्रकार जो लोग अपने इष्टकी उपासना करते तथा अन्य लोगोंके इष्टको तुच्छ मानकर उसका तिरस्कार करते हैं वे अपने ही इष्टका तिरस्कार करते हैं । हाँ, इष्टदेव चाहे जिस रूपमें हो उसकी उपासना ईश्वररूपसे ही करनी चाहिये; उसको सर्वेश्वर माननेमें कोई हानि नहीं है । परन्तु किसी देवकी निन्दा करनेका अधिकार किसीको नहीं है । ईश्वरमें विश्वास रखनेवाले तथा उसकी उपासना करनेवालेको नीचे लिखी बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

१ ईश्वर एकसे अधिक नहीं हो सकता ।

२ ईश्वर एकदेशीय नहीं होता ।

३ ईश्वर एकजातीय नहीं होता ।

४ ईश्वर अल्पज्ञ नहीं होता ।

५-ईश्वरकी सामर्थ्य परिमित नहीं होती ।

६ ईश्वर पक्षपाती और स्वार्थी नहीं होता ।

७ ईश्वरसे अन्य कुछ भी तथा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है ।

८ ईश्वर किसी प्रकार पापाचरणका प्रेरक नहीं होता ।

९ ईश्वर सर्वोच्च है और महापापीका भी हितैषी है ।

१० ईश्वर एककालीन नहीं होता ।

११ ईश्वर परम दयालु, सर्वज्ञ और आनन्दरूप हैं ।

सभी उपासकोंको अपने-अपने इष्टमें इन ग्यारह भावोंको अवश्य ही रखना चाहिये । जहाँ भावना अल्प होती है वहाँ लाभ भी अल्प होता है और जहाँ भावना महान् होती है वहाँ फल भी महान् होता है । यदि वस्तुतः कोई ईश्वरका यथार्थ रूप देखना चाहे तो बुद्धिबलसे उसको देखना या दिखाना नहीं हो सकता । उसे तो यथार्थतः वही जानता है जिसको वह प्रभु स्वयं जना देता है । गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

'सो जानै जेहि देहु जनाई ।'
तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनन्दन । जानत भक्त भक्त-उर-चन्दन ॥

श्रुति भी कहती है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः । (मुण्डक० ३ । २ । ३)

वस्तुतः भगवान् क्या हैं, इसे तो स्वयं वही जानते हैं, या उनके सच्चे प्यारे भक्त उन्हींकी कृपासे कुछ जान सकते हैं । 'अन्यों-के कथन ठीक नहीं', यह नहीं कहा जा सकता, और 'ईश्वर इत्थम्भूत अर्थात् ऐसा ही है', यह भी नहीं कहा जा सकता ।

क्योंकि ईश्वरका रहस्य अलौकिक है। प्रायः ईश्वरके विषयमें कहनेवाले अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार कुछ दूरतक कहते भी हैं, फिर भी उनका कहना अपूर्ण ही रह जाता है। इस बातको स्पष्ट करनेवाली हाथीके स्वरूपके सम्बन्धमें पैर, सूँड, पूँछ, कान, पीठ और दाँतको ही हाथी बतानेवाले छै अन्धोंकी लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है।

अतः ईश्वरके जितने भी स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णित हैं तथा सच्चे भक्तोंने स्वीकार किये हैं, उन सभीको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये और अपनी प्रीति या रुचि जिस भाव (रूप या नाम) में हो उसीकी ईश्वरभावनासे उपासना करनी चाहिये। सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि साधकको अपने इष्टमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं देखनी चाहिये, क्योंकि जहाँ अपूर्णता है वहाँ ईश्वरत्व नहीं है। साधकका भाव पूर्ण और सर्वोच्च होना चाहिये; फिर वह चाहे जिस नाम-रूपकी उपासना करे, वह सर्वेश्वर पूर्ण ईश्वरकी ही उपासना समझी जायगी। परन्तु यदि नाम-रूप अति मनोहर और श्रेष्ठ है, पर भाव श्रेष्ठ नहीं है तो वह उपासना सर्वेश्वर महेश्वरकी नहीं हो सकती। अब अन्तमें उस सर्वेश्वर परमात्माको प्रणाम करके लेख समाप्त किया जाता है—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
> (श्रीमद्भा० ११।२।४१)

श्रीकृष्ण-भक्ति-रस-तत्त्व

अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम्।
आलोलाङ्गुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्गललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम् ॥

(कवि कर्णोत्पलस्य)

जो कंधेतक लटकनेवाले मनोहर कुण्डल धारण किये हैं, जिनकी भ्रूलता धनुषकी भाँति खिंची हुई हैं, जिनके अधरपल्लव अति कोमल, सुन्दर और किञ्चित् कुञ्चित हैं (क्योंकि वे उनसे मुरली बजा रहे हैं), जिनके नेत्र बाँके और विशाल हैं और जो कल्पतरु (कदम्ब) के नीचे मनहरण त्रिभङ्गरूपसे खड़े आनन्दके साथ चञ्चल कोमल अँगुलियोंको वंशीपर फिराते हुए उसे बजा रहे हैं, ऐसे जगन्मोहन, मनमोहन, श्यामसुन्दरका ध्यान करना चाहिये।

विषयारम्भसे पूर्व लेखके शीर्षक 'श्रीकृष्णभक्ति-रस' का भावार्थ पाठकोंकी सेवामें रखना चाहता हूँ।

श्री=ऐश्वर्यवाचक, श्रीमती राधिका।

कृष्ण=(क) कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः॥

(महा० उद्योग० ७० । ५)

'कृष्' धातुका अर्थ सत्ता है और 'ण' निर्वृति अर्थात् आनन्दका वाचक है, दोनोंके योगसे 'कृष्ण' शब्द बनता है। अर्थात् जो सर्व कालमें, सर्व समयमें और सर्व देशमें नित्य आनन्दरूप हो, वही कृष्ण है।

(ख) 'कृष्' शब्दका अर्थ आकर्षण भी होता है—

कर्षति आत्मसात्करोति आनन्दत्वेन परिणमयति मनो भक्तानामिति कृष्णः।

गौतमीयतन्त्रमें कहा गया है—

(ग) कृषशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः।
सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयस्ततः॥

'कृष्' शब्दका अर्थ सत्ता और 'ण' प्रत्ययका अर्थ आनन्द-स्वरूप। आत्मा सुखरूप और आनन्दमय है, इसलिये कृष्ण-शब्दका अर्थ आनन्दमय परब्रह्म है। ब्रह्माजी कहते हैं—

(घ) अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

नन्द आदि व्रजनिवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं—महान् भाग्य हैं, क्योंकि परमानन्दस्वरूप पूर्ण सनातन ब्रह्म स्वयं उनके स्वजन हैं। भागवतमें अन्यत्र भी कहा है—

(ङ) गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।

साक्षात् परब्रह्म ही मनुजाकारमें गूढ़ होकर स्थित है।

भक्ति—हर तरहसे ऐसे आनन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्णका अथवा श्री अर्थात् राधिकाजी सहित श्रीकृष्णका सेवन करना।

रस=‘रसो वै सः’। ‘रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।’

(तैत्ति० २।७)

श्रुति कहती है, भगवान् रसरूप अर्थात् प्रेमरूप ही हैं, उस प्रेम या रसको प्राप्त होकर जीव आनन्दी अर्थात् आनन्दमग्न होता है।

वास्तवमें श्रीकृष्णभक्ति अत्यन्त ही मधुर और आनन्द-प्रदायिनी है। इस भक्तिसे ही भक्तभावन भगवान्‌के दर्शन होते हैं। जबतक उस जगन्मोहन मनमोहन श्यामसुन्दरकी बाँकी झाँकी नेत्रोंके सामने नहीं आती, तबतक यह जीव चाहे कहीं भी भटक ले, उसे वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। पर एक बार जो उस छबीली छबिको निहार लेता है, वह तन-मनकी सारी सुधि भूलकर उन्मत्त हो उठता है—

सुनत न काहूकी कही, कहत न अपनी बात।
‘नारायण’ वा रूपमें मगन रहत दिन रात॥
धरत कहूँ पग, परत कहुँ, सुरत नहीं इक ठौर।
‘नारायण’ प्रीतम बिना दीखत नहिं कछु और॥
लतन तरे ठाढ़ौ कबहुँ, कबहूँ जमुनातीर।
‘नारायण’ नैनन बसी मूरति स्यामसरीर॥

वास्तवमें प्रेमकी यह दशा वर्णनातीत है, यह ऐसा बाँका जाल है कि सांसारिक विषयरूप रसका प्रेमी भी यदि इसमें एक बार फँस जाता है तो वह भी सदाके लिये अपनेको खो देता है। पठान रसखानका हाल सभी जानते हैं। रसखानजीको हुए करीब पौने चार सौ वर्ष हो गये, वे विषयी थे और वैषयिक रूप-पर ही आसक्त हो अपना जीवन बिता रहे थे। एक बार किसी कृष्णरूप-रसिक भक्तकी कृपासे उनकी विषयान्वेषिणी आँखोंके सामने सहसा

गोकुलविहारी वनवारी मुरलीधारीकी मोहिनी छवि आ गयी। बस, फिर क्या था, उसी समय वे विषयको भुलाकर सदाके लिये नटखट नटवरपर न्योछावर हो गये। उन्होंने पुकारकर कहा—

वा लकुटी अरु कामरियापै राज तिहूँ पुरको तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधिके सुख नंदकी गाय चराय बिसारौं॥
रसखान कहै, इन आँखिनसों ब्रजके वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिकहू कलधौतके धाम करीलकी कुंजन ऊपर वारौं॥

पूज्यपाद स्वामी श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी परम विद्वान् और निराकारके पुजारी थे। आप अत्यन्त विरक्त त्यागी थे, संसारको अनित्य, नाशवान् और जड़ माननेवाले थे। नामरूपको कल्पित मानते थे और कहते थे कि सच्चिदानन्द ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। एक समय आप दैववशात् व्रज गये और वहाँ उस नुकीले नयनवाले माखनप्रेमी मनचोरके रूपजालमें फँसते ही सब कुछ भूलकर पुकार उठे—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

(श्रीमधुसूदनस्य)

सच है, उस नन्दनन्दन साकार ब्रह्मको देखकर निराकार ब्रह्मकी किसे याद रहती है?

चाहे तू जोग कर, भृकुटी मध्य ध्यान धर,
चाहे नामरूप मिथ्या जानिकै निहारि ले।

निर्गुण निरञ्जन निराकार ज्योति व्यापि रही
ऐसो तत्त्वग्यान निज मनमें तू धारि ले ॥
'नारायण' अपनेको आप ही बखान करि,
मोतें वह भिन्न नहीं, या विधि पुकारि ले ।
जौलौं तोहि नंदको कुमार नाहिं दृष्टि पर्यो,
तौलौं तू बैठि भले ब्रह्मकों विचारि ले ॥

विश्वमनमोहन व्रजवल्लभकी बाँकीझाँकी देखनेपर तो आसक्त होनेमें कहना ही क्या है। जगन्माता रुक्मिणी देवीने तो श्यामसुन्दरके रूपगुणोंकी महिमा सुनकर ही अपनेको उनपर न्योछावर कर दिया था। शुकदेवजी लिखते हैं—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥
(श्रीमद्भा० १०।५२।३७)

हे अच्युत ! हे त्रिभुवनसुन्दर ! जो कानोंके द्वारा हृदयमें प्रवेशकर सुननेवालोंके समस्त अङ्गतापको शान्त कर देते हैं, आपके वे सब गुण, और जो नेत्र रखनेवाले लोगोंकी दृष्टिका परम मुख्य लाभ या फल है उस आपके रूपकी प्रशंसा सुनकर मेरा चित्त आपपर ऐसा आसक्त हो गया है कि आज उसे लोक-लज्जाका कोई भी बन्धन नहीं रोक सका !

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥
(श्रीमद्भा० १०।५२।३८)

हे मुकुन्द ! कुल, शील, रूप, विद्या, अवस्था, द्रव्य, सम्पत्ति और प्रभावमें अपने तुल्य आप ही हैं । हे नरश्रेष्ठ ! आप मनुष्योंके मनको रमानेवाले हैं । हे पुरुषसिंह ! विवाहकाल उपस्थित होनेपर कौन कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती रमणी आपको अपना स्वामी बनानेकी अभिलाषा न करेगी ?

वृन्दावनविहारी श्रीश्यामसुन्दर गोपिकाओंके प्रेमकी पुञ्जीकृत मूर्ति थे, यादवोंके समस्त सौभाग्यके मूर्तिमान् स्वरूप थे, श्रुतियोंके सार:ब्रह्मरूप गुप्त धनके भण्डार थे और निराकार शुद्ध ब्रह्म ही श्याम-साकाररूपमें आविर्भूत हुए थे । कहा है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां
श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥

(राघवचैतन्य श्रीचरणानाम्)

अखिलभुवनपति भगवान् श्यामसुन्दरकी भक्ति लोग विविध भावसे करते हैं । भक्तिके अनेक भेद भी हैं । यहाँ उन्हींका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है ।

साधनभक्ति—यह नौ प्रकारकी है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

किसी-किसीके मतसे यह नवधा भक्ति 'मुख्या' और 'गौणी' भेदसे दो प्रकारकी होती है ।

(क) *मुख्या भक्ति*—श्यामसुन्दरकी भक्ति केवल श्यामसुन्दरके प्रेमके लिये ही हो, उसमें अन्य कोई भी अभिलाषा न हो, जैसे भक्त

प्रह्लादकी थी। प्रह्लादजी भगवान्‌को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहते थे। जब प्रह्लादको बचानेके लिये भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर हिरण्यकशिपुको मारा और प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा, तब प्रह्लादने कहा—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।२)

हे प्रभो! मैं तो जन्मसे ही (विषयोंमें) आसक्त हूँ, अब वरका लोभ दिखाकर आप मुझे न ललचाइये। चाहके डरसे डरकर ही तो मैंने निर्विण्ण होकर मुमुक्षुरूपमें आपका आश्रय लिया है।

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।

(श्रीमद्भा० ७।१०।४)

हे प्रभो! जो आपसे वर चाहता है वह दास नहीं, वह तो व्यापारी है। क्या आप मेरी परीक्षा करते हैं? इस भावसे की जानेवाली भक्तिको मुख्या कहते हैं।

(ख) *गौणी भक्ति*—जिसमें श्यामसुन्दरकी सेवा किसी अन्य उद्देश्यसे की जाती है अर्थात् जहाँ साध्य कोई लौकिक या पारलौकिक पदार्थ हो और उसकी प्राप्तिके लिये भक्ति साधनरूपसे की जाती हो।

इस प्रकारकी भक्तिके साधकोंमें रावण, हिरण्यकशिपु आदि अनेक असुरोंके उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन्होंने भोग-लालसासे प्रेरित होकर भगवान्‌से बल-वीर्य, धन-धान्य और आयु आदिके लिये वरदान माँगा था। इनके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे

अनेक भक्त हुए हैं जो भोगप्राप्ति या रोग-संकटादिकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌को भजते थे। ध्रुव, गजराज आदि इसी श्रेणीमें हैं।

किसी-किसीके मतसे भक्तिके दो भेद हैं—'वैधी' और 'रागात्मिका'।

वैधी—जो शास्त्रके आज्ञानुसार विधिसहित की जाती है वह वैधी कहलाती है, इसके भी दो प्रकार हैं—

(१) सकाम भक्ति—किसी भी कामनाको लेकर विधिपूर्वक की जानेवाली भक्ति। जैसे भक्त ध्रुवने आरम्भमें पद्मपलाशलोचन भगवान्‌की भक्ति राज्यकी इच्छासे की थी। पहले ध्रुवकी माताने ही उसे इस भक्तिकी शिक्षा दी थी, तदनन्तर महर्षि नारदजीने इन्हें भक्तिके साधन बतलाये थे। गौणी भक्ति और सकाम वैधी भक्ति बहुत अंशमें मिलती-जुलती-सी है, भेद इतना ही है कि 'गौणभक्ति' में विषयासक्ति इतनी प्रबल होती है कि साधनरूप भगवान्‌को पानेपर भी साध्यरूप विषयोंकी ही उत्कण्ठा बनी रहती है, पर 'सकाम भक्ति' में साधनरूप भगवान्‌के दर्शन प्राप्त होते ही विषयेच्छाका विनाश होकर केवल भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। जैसे ध्रुवने कहा है—

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं
त्वां प्राप्तवान्देवमुनीन्द्रगुह्यम्।
काचं विचिन्वन्नपि दिव्यरत्नं
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे॥

हे स्वामिन्! मैंने तो राज्य पानेकी अभिलाषासे ही आपके लिये तप किया था, परन्तु मुझे तो अब उसकी (आप सच्चिदा-

नन्दकी) प्राप्ति हो गयी, जो देवता, मुनि और योगियोंको भी दुर्लभ है। काँच ढूँढ़नेवालेको यदि दिव्य रत्न मिल जाय तो फिर वह काँचकी चाह क्यों करेगा ? अतएव हे नाथ ! अब मुझे कोई भी वर नहीं चाहिये। मैं तो आपके दर्शनसे ही कृतार्थ हो गया।

(२) *निष्कामभक्ति*—जो केवल कर्तव्यबुद्धिसे शास्त्रविधिके अनुसार की जाती हो—जैसे राजा अम्बरीष करते थे। दुर्वासा मुनिद्वारा प्रेरित प्रज्वलित प्रलयकारी कृत्याको देखकर भी अम्बरीषजी न तो जरा भी विचलित हुए और न भगवान्‌से रक्षा करनेके लिये उन्होंने प्रार्थना ही की। अम्बरीषजीके सम्बन्धमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६७)

ऐसे मेरे भक्त मेरी सेवामें ही तृप्त हैं; वे और कुछ भी नहीं चाहते, यहाँतक कि सेवासे मिलनेवाली सालोक्यादि चार प्रकारकी मुक्ति भी उन्हें नहीं चाहिये। फिर अन्य नाशवान् पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ?

रागात्मिका—नन्दनन्दनके प्रति अहैतुक अनुरागजनित भक्तिको रागात्मिका कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

(१) रूप-गुणजन्य (२) सम्बन्धजन्य और (३) स्वाभाविक।

१—रूप-गुणजन्य—मुरलीमनोहरके रूप-गुणोंको सुन या देखकर श्यामसुन्दरमें जो अनुराग होता है, उसे रूप-गुणजन्य

अनुरागभक्ति कहते हैं—जैसे रुक्मिणीजीकी भक्ति थी (इसका वर्णन ऊपर हो चुका है)। एक कविका कथन है—

माथेपै मुकुट देखि, चंद्रिका-चटक देखि,
छविकी लटक देखि रूपरस पीजिये।
लोचन विसाल देखि, गरे गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि चित्त चाव कीजिये॥
कुंडल हलनि देखि, अलक वलनि देखि,
पलक चलनि देखि सरवस दीजिये।
पीतंबरकी छोर देखि, मुरलीकी घोर देखि
साँवरेकी ओर देखि, देखिवोई कीजिये॥

ऐसे रूपरसिक अनेक भक्त हुए हैं।

२ *सम्बन्धजन्य*—श्रीकृष्ण हमारे पुत्र हैं, सखा हैं, भ्राता हैं, स्वामी हैं इत्यादि सम्बन्धहेतुसे जो श्यामसुन्दरमें अनुराग होता है। व्रजके गोप, नन्द, यशोदा, अर्जुन आदिका अनुराग इसी श्रेणीका था। जिस समय श्रीकृष्ण कालीदहमें कूद पड़े और कालियनाग उस सुकुमार दर्शनीय घनश्यामके साँवरे शरीरमें लिपट गया, उस समय गोपगणोंकी और नन्द-यशोदाकी बड़ी ही दयनीय दशा हो गयी। श्रीशुकदेवजी उनकी दशाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः॥

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥
कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत्स भगवान्रामः कृष्णानुभाववित् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १६ । १०, २१, २२)

गोपगणोंको सबसे बढ़कर प्रिय श्रीकृष्ण ही थे । उन्होंने अपना शरीर, अपने सगे-सम्बन्धी, अपने सब प्रयोजन, स्त्री और अभिलाषाएँ आदि सबको श्रीकृष्णार्पण कर दिया था । वे प्यारे श्रीकृष्णको उसके शरीरमें सर्पके लिपटे होनेके कारण निश्चेष्ट देखकर अत्यन्त कातर हो गये एवं दुःख, पश्चात्ताप तथा भयसे संज्ञाशून्य होकर पृथिवीपर गिर पड़े । माता यशोदा प्रिय पुत्रको इस दशामें देखकर अत्यन्त कातर हो दीन स्वरसे विलाप करती हुई पुत्रके पास जानेको स्वयं कुण्डके अन्दर घुसने लगी; किन्तु गोपियोंने, जिनको यशोदाके समान ही व्यथा थी,—रोती हुई यशोदाको रोक लिया और श्रीकृष्णकी लीला-कथा कहती तथा आँसू बहाती हुई मृतकके समान श्रीकृष्णकी ही ओर निहारने लगीं । श्रीकृष्ण ही जिनके प्राण हैं, वे नन्द आदि सब गोप शोकसे विह्वल हो जब कुण्डमें कूदनेको तैयार हो गये, तब श्रीकृष्णका प्रभाव जाननेवाले बलभद्रजीने उनको रोका ।

२ स्वाभाविक—बिना ही किसी हेतु या किसी स्वार्थके

वृन्दावनविहारमें अनुराग होना। ऐसा अनुराग कुछ व्रजबालाओं-का तथा श्रीमती राधिकाका था। व्रजबालाएँ कहती हैं—

कोऊ कहो कुलटा, कुलीन अकुलीन कहो,
कोऊ कहो रंकिनी, कलंकिनी, कुनारी हौं।
कैसो नरलोक, वरलोक, लोक लोकनमें,
लीनी मैं अलीक लोक-लीकनि ते न्यारी हौं॥
तन जाहु, धन जाहु, देव गुरुजन जाहु,
जीव किन जाहु, टेक टरत न टारी हौं।
वृंदावनवारी गिरधारीकी मुकुटवारी,
पीतपटवारी वाही मूरतिपै वारी हौं॥

भक्तिके उपर्युक्त भेदोंके अतिरिक्त दो भेद और माने जाते हैं—'मदर्थ' और 'तदर्थ'।

मदर्थ भक्ति—जो अपने सुखके लिये की जाती है। यह सुख सांसारिक भोग-सुखसे लेकर परमानन्द मोक्ष-सुखतक माना गया है। गौणी और सकाम भक्ति इसीके अन्तर्गत आ जाती है—श्रीकृष्णका भजन तो अपनी विपन्न अवस्था दूर करनेके लिये किया जाता है, पर श्रीकृष्णमें अनुराग भी है—जैसे द्रौपदीका था। कोई श्रीकृष्णदर्शनार्थ उन्हें भजता है, क्योंकि श्रीकृष्णके दर्शनसे उसके नेत्रोंको बड़ा सुख मिलता है। कहा है—

नहिं बिसरत सखि स्यामकी सुरतियाँ।
हँसन, दसन द्युति, दामिनिदमकन
चंद बदनसों अति मृदु बतियाँ॥

कुँडल झलक लखि लगै न पलक, नक-
वेसरकी हलन, चलन गजगतियाँ।
'नारायण' जब निरखुँ लालकों
सफल नयन सीतल ह्वै छतियाँ॥

कोई भक्त श्रीकृष्णको अपने कल्याणके लिये भजते हैं। इस प्रकार निज सुखार्थ की जानेवाली सभी भक्ति 'मदर्थ' है।

तदर्थ भक्ति—जिसमें अपने सुखकी चाह बिल्कुल न हो, केवल प्रियतमके सुखकी चाह हो। 'तत्सुखसुखित्वम्'—प्यारेके सुखमें ही सुखी हो। प्यारेको होनेवाला जरा-सा क्लेश भी असह्य हो। ऐसे भक्तके हृदयमें अपने लिये लोक-परलोककी चिन्ता स्वप्नमें भी नहीं होती। वह प्रतिक्षण केवल यही चाहता है कि कैसे प्यारेकी इच्छा पूर्ण हो। अपना शरीर, मन, धन, प्राण आदिके मिट्टीमें मिलनेसे भी यदि प्यारेको कुछ भी आनन्द हो तो इसीमें उसे परमानन्द होता है—श्रीमती राधिका आदि गोपिकाओं तथा कुछ अन्य भक्तोंका यही भाव था। भक्त कहते हैं—

कदम-कुंज ह्वैहौं कबै श्रीवृंदावन माँहिं।
'ललितकिसोरी' लाड़िले विहरेंगे तिहि छाँहिं॥
सुमनबाटिका विपिनमें ह्वैहौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते धरिहैं बीनि दुकूल॥
कब हौं सेवाकुंजमें ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं ललित लड़ैती लाल॥
मिलिहै कब अँग छार ह्वै श्रीबन बीथिन धूरि।
परिहै पदपंकज जुगुल मेरे जीवनमूरि॥

इनके अतिरिक्त एक भक्ति और है जिसको शुद्धा, अहैतुकी, परा या उत्तमा भक्ति कहते हैं । यह भक्ति किसी भी हेतुको लेकर नहीं होती । इसीसे इसका स्वरूप भी अनिर्वचनीय है । पूज्यपाद श्रीरूपगोस्वामीजी इसी उत्तमा भक्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

एक श्यामसुन्दरके अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक एवं पारलौकिक विषयोंकी अभिलाषासे शून्य होकर, ज्ञानकर्मादिसे अनावृत रह, श्रीकृष्णके अनुकूल उनकी सेवा करना उत्तमा भक्ति है । मतलब यह कि श्रीकृष्णको छोड़कर संसारके सारे भोगपदार्थ और मोक्षपर्यन्त सभी कुछ अन्य हैं; अथवा एक श्यामसुन्दर ही अपने निज जन हैं, और सभी दूसरे हैं । 'तुम बिनु, श्रीकृष्णदेव ! और कौन मेरो' इस भावसे श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीकी अभिलाषा नहीं रक्खे, ज्ञान और कर्म आदिके लक्ष्यसे रहित या ज्ञान और कर्मके अभिमानसे रहित श्रीकृष्णके अनुकूल सेवाको ही एकमात्र परम ध्येय समझे । ऐसे भक्तोंको जो कुछ भी कर्तव्य आकर प्राप्त होते हैं, निस्सन्देह वे सभी उनके प्रभुकी इच्छानुसार होते हैं । इसलिये वे प्रत्येक व्यवहारको ही अनुकूल समझते हैं । प्रियतम प्रभुका निरन्तर स्मरण करते हुए ही वे सब व्यवहार करते हैं । वे आधे निमेषके लिये भी अपने प्यारेका विस्मरण नहीं होने देते ।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दा-
लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ५३)

तीनों लोकके समस्त ऐश्वर्यके लिये भी उन देवदुर्लभ भगवच्चरणकमलोंको जो आधे निमेषके लिये भी नहीं त्याग सकते, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं ।

श्रीकृष्णगतप्राण भक्तका कहना है—

तौक पहिरावो, पाँव बेड़ी लै भरावो, गाढ़े
बंधन बँधावो, औ खिंचावो काची खाल सों ।
विष लै पिलावो, तापै मूठ भी चलावो,
मँझधारमें डुबावो, बाँधि पाथर कमाल सों ॥
बिच्छू लै बिछावो, तापै मोहि लै सुलावो, फेरि
आग भी लगावो, बाँध कापड़ दुसाल सों ।
गिरितें गिरावो, काले नागतें डसावो, हा, हा,
प्रीति ना छुड़ावो गिरधारी नन्दलाल सों ॥

अहैतुकी भक्तिमें केवल श्रीकृष्णके प्रति स्वाभाविक ही एक अलौकिक आकर्षण रहता है । वह न रूपजन्य है, न गुणजन्य है, न सम्बन्धजन्य है, न ऐश्वर्यजन्य है और न मोक्षके लिये ही है; फिर क्यों है ? इसका भी कोई उत्तर नहीं है । इसीलिये वह 'अनिर्वचनीय' है । नारदसूत्रमें कहा है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

'यह प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, अविच्छिन्न, अत्यन्त सूक्ष्म और अनुभवरूप है ।'

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति ॥ ५५

'इसको प्राप्त होकर मनुष्य केवल श्रीकृष्णको देखता है—कृष्णको ही सुनता है, कृष्ण ही बोलता है, और कृष्णका ही चिन्तन करता है।'

जित देखौं तित स्याममई है !

स्याम कुंज-वन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है ॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
हौं बौरी, कै लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है ॥
चंद्रसार रविसार स्याम है, मृगमद सार कामविजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनहुँ स्यामता बेल बई है ॥
स्रुतिको अक्षर स्याम देखियत, दीपसिखा-पद स्यामतई है।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख ब्रह्म छबि स्याममई है ॥

जबतक हृदयमें भोग या मोक्षकी स्पृहा रहती है, तबतक यथार्थ भक्ति नहीं प्राप्त होती। इस कथनसे कोई यह न समझें कि भगवान्‌से किसी प्रकारसे कुछ चाहना पाप या दोष है। मैं ऐसा नहीं कहता। भगवान् तो अपने सर्वस्व हैं, उनसे कुछ भी माँगना या चाहना दोषकी बात नहीं है; पर न चाहना सर्वोत्तम है। भगवान्‌से मोक्ष माँगनेवाले भक्त तो सर्वथा वन्दनीय हैं। परन्तु बात यह है कि—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः।

जिस भक्तकी श्रीश्यामसुन्दरके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति

है, मोक्षसाम्राज्यश्री तो उसके चरणोंमें लोटती रहती है।* सहेतुकी भक्तिसे भी अहेतुकी भक्ति हो जाती है। गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जिअँ जाचिअ जानकिजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आनु हिए हनुमानहि रे।
तुलसी भजु दारिद दोष दवानल, संकट कोटि कृपानहि रे॥

अतएव किसी प्रकारकी भक्ति भी उपेक्षा तथा निन्दाके योग्य नहीं, प्रत्युत सभी वन्दनीय हैं। भक्ति उत्पन्न होनेका क्रम शास्त्रमें इस प्रकार बतलाया गया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति॥
(श्रीरूपगोस्वामिनः)

प्रथम श्रद्धा, फिर सत्संग, तदनन्तर भजन, भजनसे दोषोंकी निवृत्ति, पश्चात् निष्ठा अर्थात् चित्तकी एकाग्रता-ध्यानादि, अनन्तर भगवान्के नामरूप-लीलामें रुचि, फिर प्रीति, तत्पश्चात् भाव और इसके अनन्तर प्रेमका उदय होता है। प्रेमी भक्तजनोंने भक्तिके विविध भेद बतलाये हैं और उसके अङ्ग-

* जो भक्त भगवत्प्रेममें तल्लीन हो जाता है, अपना सर्वस्व, लोक-परलोक, इच्छा-वासना, कर्म-धर्म, सभी कुछ प्रियतम परमात्माके चरणोंमें न्योछावर कर उसकी लीलाका यन्त्र, उसका अनुगत सेवक बन जाता है, उसके सारे बन्धन टूट जाते हैं, अतएव उसका मोक्ष तो स्वयंसिद्ध है। उसके एक बन्धन अवश्य रहता है, वह है मोक्षाधार परमात्माका प्रेम-बन्धन; उसको वह छोड़ना चाहता नहीं। —सम्पादक

उपाङ्गरूपमें भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, सञ्चारीभाव, उद्दीपन, आलम्बन इत्यादि अनेक प्रकार हैं। विस्तारभयसे उन सबका स्पष्टीकरण नहीं किया जाता।

साधनभक्ति करते-करते जबतक हृदयमें दिव्य प्रेमरसकी उत्पत्ति न हो तबतक वह साधन विशेष उच्च कोटिका नहीं समझा जाता। प्रेम-रस ही साधनभक्तिका फल है, क्योंकि प्रेमसे ही प्रियतमकी प्राप्ति होती है।

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तस्य मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

'श्रीकृष्णभक्तिसे सनी हुई बुद्धि कहीं मिल जाय तो उसे तुरन्त खरीद ही लेना चाहिये। ऐसी मतिका मूल्य केवल श्रीनन्द-नन्दनके पानेकी तीव्र लालसा ही है, इस लालसाको छोड़कर करोड़ों जन्मोंके पुण्यसे भी वह नहीं मिल सकती।'

इस कृष्णप्रेम-रसकी अनुभूति हो जानेपर यह जीव संसारमें वर्तता हुआ भी विषयरसमें आसक्त नहीं होता। वह श्रीकृष्ण-प्रेममें विभोर हुआ ही सब कुछ करता है।

'नारायण' जाको हियो बिंध्यो स्याम दृग बान।
जगके भावें जीवतो, है वह मृतक समान॥

ऐसे भगवत्प्रसादप्राप्त कृष्णप्रेमी भक्तका विषयव्यवहार भी आसक्तिशून्य हुआ करता है। गीतामें कहा गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

अन्तःकरण वशमें किया हुआ पुरुष राग-द्वेषरहित, वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ भी भगवत्कृपारूप प्रसादको प्राप्त करता है।

विषयोंका सेवन करते-करते जैसे उनमें मनुष्यकी रति उत्पन्न हो जाती है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' (गीता २।६२) और उसे रसास्वाद आने लगता है, जिससे वह उन्हींमें अपने आपको खो देता है, वैसे ही भक्तिके पुजारीको साधनभक्ति करते-करते जब उसमें रसास्वाद आने लगता है, तब वह भी विषयरससे विलक्षण एक अननुभूतपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, और अन्तमें उसमें अपने आपको सर्वथा विलीन कर देता है। भक्तिरस ही साक्षात् प्रेम या भगवान्का स्वरूप है, इसके उदयसे श्याम-सुन्दरमें अकैतव प्रेम हो जाता है।

उपर्युक्त भक्तिरसको भक्तोंने पाँच भेदोंमें विभक्त किया है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। ये सभी रस विलक्षण और अद्भुत हैं। वास्तवमें किसी भी रसका वर्णन लेखनी या वाणी नहीं कर सकती। भगवत्कृपासे भगवज्जन उनका अनुभव ही करते हैं। मेरे-जैसे मनुष्यद्वारा ऐसे भक्तिरसके वर्णनका प्रयास तो बालकके चन्द्रस्पर्शकी चेष्टावत् हास्यास्पद ही है; परन्तु यह प्रयत्न केवल चित्तविनोदार्थ ही है, अतएव पाठकगण इस धृष्टताको क्षमा करेंगे।

शान्तरस

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—जो मुझको सर्वत्र देखता है, और सब जगत्को मुझमें देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह भक्त मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता। अर्थात् मैं सदा उस भक्तको देखता हूँ, और वह सदा मुझे देखता रहता है।

साधन करते-करते साधक अहंता-ममताको विनष्ट कर सर्वत्र केवल एक परमात्माकी सत्ताका ही अनुभव करता है। उसकी समस्त भोग-वासनाएँ भलीभाँति शान्त हो जाती हैं। जब प्रबल वायुके कारण नदियोंमें भयङ्कर तरङ्गें उठने लगती हैं, तब उनके स्वरूपको अशान्त कहा जाता है। और जब वायुके न रहनेसे लहरें स्थिर हो जाती हैं, तब उनके स्वरूपको शान्त कहते हैं। वैसे ही इस शान्तरसमें भोगवासनारूप वायुके नाश हो जानेके कारण प्रमथनशील चञ्चल इन्द्रियोंकी दुर्दमनीय वृत्तियोंकी तरङ्गें निवृत्त होकर अशान्त अन्तःकरण शान्त हो जाता है और वह केवल एक आनन्दकन्द वृन्दावनविहारीके शान्तस्वरूपमें मग्न रहता है। इसी स्थितिमें भक्त अनन्त, अचल, परम, नित्य, अविकारी, अविनाशी, शाश्वत, शान्तरसको प्राप्त होता है। गीतामें कहा है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव

करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता, जिस शान्त परमानन्दरूप लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और शान्त आनन्दमें स्थित हुआ बड़े भारी दुःखसे भी कभी चलायमान नहीं होता।' वास्तवमें यही शान्तरस है। भक्तिशास्त्रोंमें शान्तरसका स्वरूप इस प्रकार दिखाया है—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः।
स्थायिशान्तरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः॥

'आगे वर्णित होनेवाले विभावादिद्वारा शमतासम्पन्न भक्तोंके हृदयमें जो स्थायी शान्तरसका आस्वादन होता है, उसे शान्तभक्ति-रस कहते हैं।' जिसमें और जिसके द्वारा प्रेम विभावित हो अर्थात् आस्वाद्य-रूपसे प्रकाशित हो, वह विभाव कहलाता है। इस विभावके दो भेद हैं—आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव। जिसमें प्रीति विभावित हो, वह आलम्बन-विभाव है। यह आलम्बन-विभाव भी दो प्रकारका होता है—(१) विषयालम्बन और (२) आश्रयालम्बन।

प्रीति जिसके उद्देश्य हो उसका नाम 'विषयालम्बन' और प्रीति जिसके आधार हो वह 'आश्रयालम्बन' है। जैसे श्रीकृष्ण-प्रेममें श्रीकृष्ण भगवान् विषयालम्बन हैं और श्रीकृष्णभक्तगण ही आश्रयालम्बन हैं। जिसके द्वारा प्रीति-उद्दीपन हो उसका नाम उद्दीपन-विभाव है; जैसे श्रीकृष्णके आभूषणादि, वस्त्रादि श्रीकृष्णका स्मरण कराते हैं। (नृत्यादि भी भावको उद्दीपित करते हैं, इनको अनुभाव कहा गया है)। भक्तिरसमें वर्णित भाव सब स्थायी होते हैं। साधनभक्तिमें भाव स्थायी नहीं माने जाते। शान्त

भक्ति-रसके उपासक सनकादि, कपिल मुनि, दत्तात्रेय आदि माने जाते हैं। भीष्मपितामह भी शान्तरसके उपासक थे। श्रीकृष्ण-प्रेमी होते हुए भी वे श्रीकृष्णकी अनन्त, अखण्ड, असीम, अविनाशी, शान्त-ब्रह्मरूपसे ही उपासना करते थे। भीष्मजीने महाभारतके युद्धमें अपने पैने बाणोंसे भगवान्‌का कवच तोड़ दिया था और उनके शरीरसे रुधिरकी धाराएँ बहा दी थीं, तो भी वे उन्हीं श्रीकृष्णके अनन्य भक्त हैं और उन्हींका ध्यान करते हैं—

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥
(श्रीमद्भा० १।९।४२)

'जन्म-कर्मरहित और अपनेहीसे उत्पन्न किये प्राणियोंके हृदयमें जो एक होकर भी अनेकपात्रपतित प्रतिबिम्बद्वारा अनेकधा प्रतीत सूर्यकी भाँति अनेकरूप प्रतीत होता है, उस ईश्वरको भेददृष्टि और मोहसे शून्य चित्तद्वारा मैं प्राप्त हुआ हूँ।'

ब्रह्मसंहितामें कहा है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

'प्रेमरूपी अञ्जन जिन भक्तिरूपी नेत्रोंमें लगा हुआ है, उन नेत्रोंसे भक्तजन सदा अपने हृदयमें भगवान्‌के दर्शन करते हैं।

उन अचिन्त्य गुणोंके प्रकाशक आदिपुरुष गोविन्द श्यामसुन्दरको मैं भजता हूँ।'

जगत्में कोई दूसरोंपर प्रभुता करके आनन्दानुभव करता है तो कोई आश्रित रहकर ही आनन्दका अनुभव करता है; कोई पुत्रकी प्राप्तिसे पिता बनकर आनन्दका अनुभव करता है तो किसीको पुत्र बननेमें ही आनन्द आता है; कोई स्त्रीके प्राप्त होनेमें आनन्द मानता है तो कोई स्त्रीरूपमें ही आनन्दको प्राप्त है; कोई चञ्चल, अस्थिर, अशान्त रहनेमें अपनेको सुखी मानता है तो कोई शान्त, स्थिर रहनेमें ही सुखका अनुभव करता है; कोई सख्य-प्रेममें आनन्द मानता है तो कोई मित्रद्रोहमें ही प्रसन्न होता है। इस प्रकार जगत्में विभिन्न रुचि हैं।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।

(शिवमहिम्नस्तोत्रात् ७)

'रुचिभेदसे ही जीव टेढ़े-सीधे मार्गोंका अवलम्बन करते हैं।' मनुष्य भिन्न-भिन्न रसोंका अवलम्बन करके उसीमें डूबा हुआ है और उपर्युक्त सभी सांसारिक सम्बन्ध मायिक, नाशवान् तथा क्षणभङ्गुर हैं; परन्तु मनुष्य आसक्तिवश इन सम्बन्धरसोंको भगवान्से नहीं जोड़ता, इसीसे आनन्दमयकी सृष्टि आनन्दरूप होते हुए भी ('आनन्देन खलु इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३ । ६), 'आनन्दमयोऽभ्यासात् (ब्रह्मसूत्र १ । १२)' इत्यादि वचनोंसे आनन्दसे उत्पन्न वस्तु आनन्दरूप ही होती है, निरानन्दमय कैसे होगी ?) उसे दुःखरूप प्रतीत होने लगती है। परन्तु जिस समय वह भगवत्कृपासे या भगवद्भक्तोंकी कृपासे सावधान होकर भगवान्को

अपना समझ लेता है और अपने सम्बन्धको पहचान लेता है, उसी समय वह दुःख और शोकसे रहित हो जाता है।

ब्रह्माजी कहते हैं—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

'हे कृष्ण! लोग जबतक पूर्णतया आपके जन नहीं हो जाते तभीतक उनको रागादि चोरोंका डर बना रहता है, तभीतक उनके लिये घर कैदखाना होता है और तभीतक उनके पैरोंमें मोहकी बेड़ी पड़ी रहती है।'

दास्यरस

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥
(अकालजलदस्य)

दास्यरसका एक उपासक विधाताको नमस्कार करके उनसे प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो! इस शरीरके पाँचों तत्त्व अपने-अपने कारणमें लय तो होनेवाले हैं ही; आप कृपाकर इतना ही करा दीजिये, जिससे इसका जलीय भाग श्रीकृष्णके कूपमें, तेज भगवान्‌के दर्पणमें, आकाशका भाग उनके आँगनमें, पृथिवीका भाग उनके मार्गमें और वायुका भाग प्रभुके पंखेसे होनेवाली वायुमें विलीन हो जाय। मतलब यह कि अलग-अलग होकर भी पाँचों तत्त्व प्रभुकी सेवामें ही लगे रहें।' कैसी चोखी चाह है!

दास्य-रसमें यह भाव रहता है कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण स्वामी हैं और मैं उनका दास हूँ। प्रभुसेवा ही मेरा धर्म है। वह भक्त प्रभुसेवाके लिये अपना सर्वस्व त्याग देता है। प्रभुके अनुकूल ही वर्तता है। सेवा वही है जो प्रभुके अनुकूल हो; जो अपने मनको प्रिय लगे और प्रभुके प्रतिकूल हो, वह तो सेवा नहीं है। जिसमें अपने मनके प्रतिकूल सेवा करनेमें अरुचि रहती है, उसको दास्यरस नहीं कहा जाता। दास्यरस वही है जो प्रभुके रुचिके अनुकूल हो, उसमें चाहे अपना मान हो या अपमान। सम्पद्‌वृद्धि हो या उसका नाश, कुटुम्ब बढ़े या उसका क्षय हो जाय, शरीर पुष्ट हो या शीर्ण, दीर्घ आयु हो या प्राणनाश—इन सब बातोंमें-से उसका न किसीमें राग है, न द्वेष है। वह तो केवल अपने प्रभुकी रुख देखता है। वह रुख, प्रभुकी वह मरजी, सम्पत्ति या ऐश्वर्य बढ़ानेवाली हो या नाश करनेवाली, उसे तो उसकी मरजीमें ही आनन्द और सुख है। प्रभुकी मरजी ही अनुकूल है, प्रभुकी मरजीके खिलाफ़ सभी प्रतिकूल है; यह केवल भावना या विवेक नहीं, वास्तवमें ऐसा ही ज्ञान होता है। एक दास प्रभुकी सेवामें अनेक स्वादु भोज्य पदार्थ भेजता है; प्रभु यदि भोजन करते हैं तो उसे आनन्द होता है, नहीं भोजन करते हैं तो चित्तमें क्लेश होता है। पर दास्यभक्ति-रसके उपासक प्रभुकी रुचि भोजन न करनेकी जान लेते हैं तो उनके भोजन न करनेमें ही उन्हें प्रसन्नता होती है। एक दास प्रभुके लिये अनेक आभूषण और वस्त्र भेजता है, प्रभु उनको लेकर नदीमें फेंक देते हैं। दास्यभक्ति-रसका तत्त्व न जाननेवाले लोग इससे दुःखी हो सकते हैं, पर दास्यभक्ति-रसके

उपासकको इसमें आनन्द होगा, क्योंकि प्रभुकी यही मरजी है। वह तो प्रभुका दास है, किसी अन्यका नहीं; प्रभु जिसमें प्रसन्न हों, उसीमें वह प्रसन्न है। भक्तिग्रन्थोंमें दास्यरसका वर्णन करते हुए कहा गया है—

दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः।
विश्वस्ताः प्रभुताज्ञानसुविनम्रधियश्च ते॥

'प्रभुके दास विनयी, आज्ञाकारी, विश्वासी, स्वामीकी महिमाके ज्ञानयुक्त और विनम्र बुद्धिवाले होते हैं।' भगवान्‌के दास स्वामीके समीप सदैव नीची नजर किये रहते हैं, वे ऊँची दृष्टि ही नहीं करते। स्वामी जो कुछ भी आज्ञा करते हैं, उसके पालनमें किञ्चिन्मात्र भी पीछे नहीं हटते। स्वामी उन दासोंको जो कोई वस्तु या बात गुप्त रखनेको कहते हैं, वे उसकी विश्वस्ततासे रक्षा करते हैं और अपने प्रभुसे अधिक कुछ नहीं है ऐसा मानते हुए सदा-सर्वदा विनयी बने रहते हैं। दास्यभक्ति-रसमें चार बातें बाधक हैं—सकामभाव, अभिमान, आलस्य और विषयासक्ति।

भक्तिशास्त्रोंमें दास्य-भक्तोंके चार भेद किये हैं—

अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुग।

अधिकृत दास—जिनको नियमित कार्यका अधिकार दिया गया हो; जैसे ब्रह्मा, इन्द्र, यमादि।

आश्रित दास—कालियनाग, बहुलाश्व राजा, इक्ष्वाकु आदि।

पारिषद दास—उद्धव, दारुक, सात्यकि, श्रुतदेव आदि।

अनुग दास—सुचन्द, मण्डन, स्तम्ब, सुतम्ब, ये लोग व्रजमें श्यामसुन्दरकी सेवामें रहते थे और श्यामके सदृश ही वस्त्राभूषण धारण करते थे।

दास्यभक्तिके पुजारी अपने आनन्दको सर्वथा त्यागकर सेवा-कार्यमें ही तत्पर रहना चाहते हैं, इसीमें उन्हें परमानन्द मिलता है। एक समय दारुक सारथि श्रीनन्दनन्दनको थके हुए देख रथमें ही भगवान्को हवा करने लगा और जब श्रीकृष्ण निद्रित हो गये, तब वह भगवान्की रूपमाधुरीको निरखता और पंखा झलता हुआ मन-ही-मन कहने लगा—

नैन चकोर मुखचंदहूपै वारि डारौं,
वारि डारौं चित्तहि मनमोहन चितचोर पै।
प्राणहूकों वारि डारौं हसन दसन लाल,
हेरन कुटिलता औ लोचनकी कोर पै॥

नेत्रोंद्वारा रूपमाधुरीका पान करते-करते जब आनन्दकी वृद्धिसे सेवामें किञ्चित् आलस्य आता देखा, तब वह हड़बड़ाकर अपने मनके आनन्द और सुखसे प्रार्थना करके कहने लगा—'हे आनन्द! मैं तुम्हें नहीं चाहता, तुम मेरे हृदयसे तुरन्त हट जाओ; तुम्हारे आनेसे प्रभु-सेवामें विघ्न होनेकी सम्भावना है, इसलिये तुम त्याज्य हो।'

सख्यरस

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेशमनुव्रतांसे ।

विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥

'श्यामशरीरपर सुवर्णपीतपट ऐसा जान पड़ता है मानो श्यामघनघटामें इन्द्रके धनुषका मण्डल शोभायमान है। गलेमें वनमाला है, मोरके पंख, धातुओंके रंग और नवपल्लवोंसे सुसज्जित विचित्र नटवर वेष देखने ही योग्य है। एक सखाके कंधेपर दाहिना हाथ रक्खे हुए बाएँ हाथसे आप कमलका फूल घुमा रहे हैं; कानोंमें कमल, कपोलपर काली-काली अलकें और प्रफुल्ल मुखकमल-में हँसीकी अपूर्व शोभा है।'

इस रसमें श्रीकृष्ण विषयालम्बन और उनके प्रिय सखागण आश्रयालम्बन हैं। इस रसके पुजारी श्रीकृष्णसे अपने मित्रत्वका सम्बन्ध मानते हैं। जहाँ मित्रता है, वहाँ ऊँच-नीचका व्यवहार नहीं होता। व्यवहारमें समता रहती है। श्रीकृष्णको कोई कुछ भी माने, या उनका कितना ही प्रभाव बतावे, सखा किसी मर्यादाके बन्धनमें नहीं रहता। मित्रत्वके सम्बन्धसे जब जैसे व्यवहारकी आवश्यकता होती है, वह वैसा ही करता है। अर्जुन श्रीकृष्णको आज्ञा देता है—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ (गीता १।२१)

'दोनों सेनाओंके बीच मेरा रथ खड़ा करो'—और श्रीकृष्ण भी तुरन्त वैसा ही करते हैं। दोनों ओरसे संकोचशून्य व्यवहार है। महाभारत-युद्धके समय अपने प्यारे सखाके घोड़ोंको यमुनाजीमें ले जाकर स्नान कराना श्रीकृष्णका दैनिक कार्य था। युद्धकालमें

घोड़ोंकी लगाम और चाबुक हाथमें लेकर आप सूतस्थान (कोचबक्स) पर बैठ जाते थे, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ती हुई धूलि श्यामसुन्दरके घुँघराले बालोंपर और मुखचन्द्रपर अपूर्व शोभा देने लगती थी।

बाल्यावस्थाके व्रजसखाओंसे तो आपके कटु-मधुर वचन, मान-अपमान, मार-पीट, उच्छिष्ट भोजन करना-कराना, दाव देना-लेना आदि सभी कुछ स्वच्छन्दतासे चलता था। कहीं विषमताका नाम भी नहीं था। श्रीकृष्ण जब अपने बालसखाओंके साथ वनमें गैया चराने जाते थे, तब माता यशोदा तथा गोपिकाएँ सभी अपने-अपने लालोंके लिये वनमें खानेको कुछ भोजन साथ दे देती थीं। व्रज-बालकगण गौओंको किसी सुरम्य स्थानपर यमुनातटपर चरनेको छोड़ देते। भोजनके पदार्थोंको छींकोंमें रखकर गाछमें लटका देते और स्वयं अनेक प्रकारके खेल खेलने लगते। कोई वंशी बजाता, कोई सींग बजाता, कोई भ्रमरकी ज्यों गुनगुनाता, कोई कोयल, मोर या बंदरकी बोली बोलता, कोई पक्षियोंकी छाया पकड़ने दौड़ता, कोई हंसकी ज्यों चलता, कोई बगुलेकी ज्यों बैठता, कोई मोरकी ज्यों नाचता, कोई बंदरकी भाँति कूदता और कोई मेंढककी ज्यों उछलता। इस प्रकार अनेक भाँतिकी क्रीडाएँ करते-करते जब उन्हें भूख लगती, तब जहाँ छींके टँगे रहते वहाँ सब लौट जाते। यहाँ भी वही क्रीडा होती, एक दूसरेके छींके लोग पीछेसे उतार लेते। कोई किसीका छींका छिपा देता। इस प्रकार आपसमें हँसी-मजाक चलता। आखिर सब मिलकर किसी वृक्षकी सुन्दर छायामें बैठ अपने-अपने छींके खोलकर भगवान्‌के साथ भोजन करते। उनके बैठनेका शुकदेवजी वर्णन करते हैं—

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥
(श्रीमद्भा० १०।१३।८)

'प्रफुल्लनयन सब ग्वालबाल व्रजमें कृष्णको चारों ओरसे घेरकर उन्हींकी ओर मुख करके मण्डली बनाकर बैठे, उस समय कृष्ण तो कमल-कुसुमकी कर्णिका और गोपबालक सब पँखुड़ीके समान शोभायमान हुए।'

अब यहाँकी लीलाको देखिये—सब ग्वालबाल अपने-अपने भोजनको, कोई पत्तोंपर, कोई फूलोंपर, कोई पत्थरपर सामने रख-कर भोजन करने लगे। बीचमें बैठे श्रीकृष्ण भोजन करते हैं।

गोपबालक बढ़िया चीज खुद कैसे खायँ? नन्दनन्दन तो उनके जीवन-प्राण हैं। कोई एक लड्डू लाया था, उसे मुखमें ले लिया। खाने लगा, पर ज्यों ही जीभको यह पता लगा कि यह तो बहुत ही स्वादिष्ट है, वहीं उसका खाना रुक गया। कृष्णको अपनी ओर खींचा और अपने मुँहसे निकालकर वह लड्डू तुरन्त उनके मुखमें दे दिया। क्या ही अनोखा भाव है! ऐसे ही सभी बालक अपनी-अपनी जूँठन बड़े त्याग और प्रेमसे श्रीकृष्णको खिला रहे हैं। श्रीकृष्ण उनके अतिप्रिय थे। कभी-कभी गोपबालक भी श्रीकृष्णका भोजन उनके हाथसे छीनकर खा जाते थे। श्रीकृष्ण भगवान्‌को पवित्र अनुच्छिष्ट पदार्थोंका भोग लगानेवाले भक्त तो सदैव मिलते रहते हैं; पर ऐसे प्यारे भक्त दुर्लभ हैं, जो स्वादिष्ट उच्छिष्ट पदार्थको

निःसंकोच अर्पण करें। यह सख्य-रसास्वाद वैकुंठमें भी दुर्लभ है। इस रसका पानकर केवल गोपसखा ही सुखी नहीं होते थे, स्वयं ठाकुर भी इसी दुर्लभ रसके लिये गोकुलमें पधारे थे।

खेलनेमें भी वहाँ खुला खाता था, कहीं संकोचका नाम नहीं। दाव देने-लेनेमें, मार-पीटमें, कृष्णका कुछ भी मुलाहिजा नहीं। नटखट कृष्णने कहीं कुछ गड़बड़ की तो तुरन्त सब बालकोंने मिलकर उसे खेलसे अलग कर देनेका प्रस्ताव पास किया। जैसा प्रस्ताव, वैसा ही काम भी। चलो निकलो यहाँसे! श्यामसुन्दर ढीले पड़े और लगे खुशामद करने। एक दिन ऐसा ही हुआ। सखाओंने वह फटकार बतायी कि वैकुंठमें बैठकर यमराजको डरानेवाले ब्रह्मकी सारी ताकत गुम हो गयी। लगे गिड़गिड़ाकर क्षमा माँगने। क्योंकि साथ खेले बिना इनसे भी तो रहा नहीं जाता था।

खेलनमें को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रुसैयाँ॥
जाति-पाँति हमते बड़ नाहीं, ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते, जाते अधिक तुम्हारे गैयाँ॥
रूठ करे तासों को खेलै, हाहा खात, परत तब पैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यो ही चाहैं, दाँव दियो कर नंद दुहैयाँ॥

(सूरसागर)

'क्या हुआ जो हजार दो हजार गौएँ ज्यादा हैं, खेलना है तो ईमानदारीसे खेलो। नहीं तो दूर होओ हमारे दलसे अभी! यह रूठना हमें नहीं सुहाता!'

सच बात तो यह है, श्रीकृष्ण इन फटकारोंको (जो उन्हें वैदिक

स्तुतिसे भी कहीं अधिक प्रिय होती है) सुननेके लिये ही ऐसी चालें चला करते थे। खुशामदकी स्तुतियाँ और यशोगान करनेवाले भक्त तो सदा ही मिलते रहते हैं, फटकार बतानेवाले भक्त दुर्लभ हैं !

मित्रोंकी डाँट सुने कई दिन हो गये, मनमोहनकी इच्छा हुई कि आज मित्रोंके प्रेमभरे वाग्बाग सुनें। आपने कहा, 'भैया ! आज सारी गायोंको सब एक ही साथ मिलकर चरावेंगे। अलग-अलग करनेसे ठीक सम्हाल नहीं होती। आज सब मिलकर ही सम्हाल रक्खो।' सबने कहा, ठीक है ! ऐसा ही हुआ। थोड़ी ही देरमें इधर-उधर ताककर श्याम खिसके और जाकर पेड़की शीतल छायामें सो गये। गोपबालकोंने सोचा, 'कुछ थक गया होगा, अभी सोकर उठेगा तो काम करेगा।' श्रीकृष्णके मनकी बात नहीं बनी। इससे आप उठे और सखाओंसे बिना कुछ कहे-सुने ही एक सुहावने कदम्बपर चढ़कर लगे वंशी बजाने। ग्वालबालकोंने यह देखकर परस्पर कहा, यह तो बड़ा शरारती है। अपनी गायें हमें सम्हलाकर खुद पहले तो सो रहा और अब आनन्दसे कदम्बपर चढ़कर वंशी बजाता है। गौओंके पीछे धूपमें इधर-उधर दौड़ना तो हमारे जिम्मे और सुखसे चैनकी वंशी बजाना इसके ! कैसा चतुर-चूडामणि है ? इसीलिये इसने आज सब गायोंको शामिल करवाया था। चलो, अलग करो इसकी गायोंको; बड़ा है तो अपने घरमें है। सखा खीझ गये और बोले—

न्यारी करो, हरि ! आपनी गैयाँ।
नाहिन बनत, लाल, हम तुमसों,
कहा भयो, दस गैयाँ अधिकैयाँ॥

ना हम चाकर नंदबाबाके,
ना तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ।
आपन रहत नींदको मातो,
हम चारत तेरी बन बन गैयाँ॥
कबहूँ आय कदँब चढ़ि बैठे,
हम गैयन सँग लगत पठैयाँ।
मानी हार सूरके प्रभुने,
अब नहिं जाउँ मोहि नँदकी दुहैयाँ॥
(सूरसागर)

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि श्रीकृष्णके ये बालसखा श्यामसुन्दरको केवल फटकार ही बताते थे, वे उन्हें प्राणोंसे बढ़कर प्यार भी करते थे। श्रीकृष्णकी तनिक-सी उदासी उनके मनको असह्य हो उठती थी। वे उन्हें जरा-सी भी तकलीफमें नहीं देखना चाहते थे। भगवान्ने जब गोवर्धन-पर्वतको हाथपर उठा लिया, तब इन सरल बालसखाओंने भी अपनी-अपनी लकुटियोंका सहारा लगाकर उन्हें सहायता दी। अन्तमें ये उनसे कहने लगे—

अनिद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्तक्षपास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम्।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम्॥

'हे श्यामसुन्दर! तूने बिना ही सोये खड़े-खड़े सात रातें बिता दीं। तुझे बड़ा कष्ट हो रहा होगा; अब यह पहाड़ श्रीदामको दे दे, वह इसे उठा लेगा। तेरा कष्ट देखकर हम लोगोंको बड़ा कष्ट हो रहा है। यदि तू हमारी यह बात नहीं मानता तो कम-से-कम पहाड़को

बायें हाथसे दाहिनेपर तो ले ले। इतनेमें हम तेरा बायाँ हाथ मल देंगे, जिससे तेरी पीड़ा तो मिट जायगी।' बलिहारी!

भक्तिग्रन्थोंमें श्रीकृष्णके सखा चार प्रकारके बतलाये गये हैं—

१ *सुहृद्*—जो श्रीकृष्णसे उम्रमें बड़े थे और श्रीकृष्णकी सम्हाल रक्खा करते थे, यथा—सुभद्र, बलभद्र, मण्डलीभद्र, गोभट, इन्द्रभट आदि।

२ *सखा*—जो श्रीकृष्णसे उम्रमें छोटे थे, जैसे—विशाल, देवप्रस्थ, वृषभ, ओजस्वी आदि।

३ *प्रियसखा*—जो श्रीकृष्णके समानवयस्क थे, जैसे श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, अंशु, भद्रसेन आदि।

४ *प्रियनर्मसखा*—जो विशेष भावपूर्ण और रहस्यकी लीलाओं-में श्रीकृष्णके साथ रहते थे, यथा—सुबल, अर्जुन, वसन्त, उज्ज्वल आदि।

वात्सल्यरस

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। १)

'हे स्तुतिके योग्य! मैं आपको प्रणाम करके आपकी स्तुति करता हूँ। आपके नीलनीरदश्याम शरीरमें पीतपट बिजलीके समान शोभा पा रहा है, घुँघचीके गहने कानोंमें और मोरपुच्छका मुकुट मस्तक-पर शोभा दे रहा है, गलेमें वनमाला है, भोजनकी सामग्रीका कौर,

बेंत, सींग और मुरली आदि आप हाथमें लिये हुए हैं तथा हे गोपनन्दन ! आपके चरणसरोज बड़े ही सुकुमार हैं ।'

वात्सल्यरसमें भगवान्‌की ठीक बालक समझकर ही उपासना की जाती है । इस रसमें विभूति और ऐश्वर्यका ज्ञान नहीं रहता; यहाँ तो जैसे माता-पिता अपने छोटे बच्चेको जिस स्नेहसे पालते और उसका सर्व प्रकार हितचिन्तन करते हैं, वही भाव रहता है । हमारे लालको कहीं कष्ट तो नहीं हो गया, बच्चा कहीं भूखा तो नहीं है, उसके लिये कौन-कौन-से खिलौने मँगवाने हैं ? बस, यही चिन्ता रहती है । घरका सारा काम-काज छोड़कर माता इसी काममें प्रधानतासे लगी रहती है और इसीमें उसे परम सुख मिलता है । श्यामसुन्दरके वात्सल्यरसके उपासकोंमें माता यशोदा, रोहिणी, देवकी, नन्दबाबा, वसुदेवजी आदि थे । माता यशोदा-को तो सवेरेसे लेकर रातको सोनेतक अपने प्यारे ललाके नाना प्रकारके कामसे कभी छुट्टी ही नहीं मिलती थी । सवेरा होते ही माता जगाने लगती—

जागो बंसीवारे ललना, जागो मोरे प्यारे ।
रजनी बीती, भोर भयो है, घर घर खुले किवाँरे ॥

कृष्णललाके उठनेपर माता उनके आँख-मुँह धोकर अपने बहुमूल्य आँचलसे पोंछती है, नये कपड़े पहनाकर दूध पिलाती है, गोदमें लिये मोदभरी इधर-उधर घूमती है, कभी लालको माखन-रोटी देकर आँगनमें बैठा देती है । कौआ आता है, रोटी छीनकर ले जाता है । ललाजी रोते हैं, कागके पीछे दौड़ते हैं । आँगनमें बिखरी माखन-रोटीकी जूँठन कौए, मोर और बंदर ले जाते हैं,

श्रीकृष्ण रोटी बगलमें छिपाते हैं, पर बंदर हाथसे छीन भागते हैं; श्यामसुन्दर पीछे दौड़ते हैं, बंदर घुड़की देता है तो रोने लगते हैं, कभी-कभी बंदरोंका-सा मुँह बनाकर बदलेमें आप भी घुड़की देते हैं। माता देखकर दौड़ती है, प्रसन्न होती है। एक दिन श्रीकृष्ण खेलमें रम गये, खानेतककी सुधि न रही, सारा शरीर धूलसे सन गया। माता दौड़कर गयी और कहने लगी—

कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥
हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन।
प्रातरेव कृताहारस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः॥

× × × ×

धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलंकृतान्।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः॥

(श्रीमद्भा० १०।११।१३–१७)

'हे कृष्ण, हे मेरे प्राणधन, हे कमललोचन, आ, दूध तो पी ले। बहुत खेल चुका; अब, बेटा, भूख लगी होगी, खेलते-खेलते थक गया होगा। लाल बलराम, अपने छोटे भाईको साथ लेकर जल्दी चला आ। तुम दोनोंने बहुत सवेरे कलेवा किया था, अब तो भोजनका समय है। आओ, दोनों भोजन कर लो। व्रजनाथ (श्रीनन्दजी) रसोईमें बैठे तुम्हारी बाट देख रहे हैं। आओ, हमें प्रसन्न करो;

बड़ी अबेर हो गयी है, तुम्हारे साथी बच्चोंको भी अपने-अपने घर जाने दो। मेरे चाँद! तेरा शरीर धूलसे भर गया है, आकर नहा ले। आज तेरा जन्मोत्सव है, नहा-धोकर ब्राह्मणोंको गो-दान दे। देख तेरे ये कितने ही साथी कैसे अच्छे लगते हैं, इनकी माताओंने इन्हें नहला-धुलाकर अच्छे-अच्छे गहने-कपड़े पहनाये हैं; तू भी स्नान करके भोजन कर ले और अच्छे-अच्छे कपड़े-गहने पहनकर फिर यहाँ आकर खेल।' खेलमें रमे हुए ब्रह्मादिवन्दित श्याम जब नहीं उठे तो माता हाथ पकड़कर उन्हें घर ले गयी।

माता यशोदा अपने श्यामललाको आँगनमें बैठाकर दूसरे काममें लग गयी थीं, इतनेमें ही असुर तृणावर्त आँधीके रूपमें आकर उन्हें उठा ले गया। फिर जब भगवान्‌के द्वारा मारा जाकर वह नीचे गिरा तो श्रीकृष्ण उसके शरीरपर खेलने लगे। गोपियोंने दौड़कर मूर्छित यशोदाको जगाकर कहा कि तुम्हारे पूर्वपुण्यसे श्यामसुन्दर सकुशल हैं। यशोदा दौड़ी और पुत्रको गोदमें उठाकर कहने लगी, मुझे धिक्कार है जो मैं अपने लालका भार भी न सह सकी और इसे गोदसे उतारकर नीचे बैठा दिया। उस माताको धिक्कार है जो बच्चेका भार न सह सके—

नवनीतमिवातिकोमलो
व्यथते यो बत मातुरङ्कतः।
स कथं खरपांशुशर्करा-
तृणवर्षं सहते स मे सुतः॥

'मेरा लाल तो नवनीतसे भी अधिक कोमल है, इसको मेरी

स्नेहभरी गोदमें भी पीड़ा हुआ करती है। हाय! इसने प्रचण्ड धूल-कंकड़ और तृणोंकी वर्षाको कैसे सहा होगा?'

एक दिन माताने श्रीकृष्णको ऊखलसे बाँधना चाहा, रस्सी दो अंगुल छोटी होती गयी। आखिर माताको थकी समझकर भगवान् आप ही बँध गये—

जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल कर्मकी डोरी।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

(विनयपत्रिका)

इसी मधुर अवस्थाको दिखलाती हुई भावुक गोपबाला अनन्त ब्रह्मको वेदोंमें खोजनेवाले ब्रह्मोपासकोंके प्रति कहती है—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिपदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

(लीलाशुकस्य)

'वेदोंमें ब्रह्मको खोजते-खोजते उन्हें न पाकर दुखी हुए ब्रह्मप्रेमी ऋषियो! इधर सुनो, हम बतावें तुम्हारे ब्रह्मको; यदि तुम वास्तवमें ब्रह्मका साक्षात् दर्शन चाहते हो तो उस गोपीके घरपर जाकर देखो, जहाँ वह उपनिषद्का तत्त्व ब्रह्म ऊखलमें बँधा बैठा है।'

उस वात्सल्यरसकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है, जिसको पान करनेके लिये स्वयं त्रिभुवनपतिको गोपकुलमें आकर ऐसी लीला करनी पड़ी!

माधुर्यरस

अधरं मधुरं वदनं मधुरं
नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं
वसनं मधुरं वलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥
(श्रीवल्लभाचार्यस्य श्रीमधुराष्टकात्)

श्रीश्यामसुन्दरके सब अंग, सब वस्तु, सब चरित्र और सारे व्यवहार ही मधुर हैं। इस रसमें रूपमाधुर्य, वेणुमाधुर्य, लीला-माधुर्य और प्रेममाधुर्यके आधारभूत श्रीकृष्ण ही एकमात्र विषया-लम्बन हैं और व्रजाङ्गनाएँ आश्रयालम्बन हैं।

इसमें वंशीध्वनि, वसन्तऋतु, कोयलका स्वर, नवजलधर और केकीकण्ठ इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं; और कटाक्ष, हास्य, नृत्य आदि अनुभाव हैं; इस रसके अन्यान्य भी अनेक भाव हैं। श्रीमती राधिका और अन्य कतिपय गोपिकाएँ इस रसकी उपासिका मानी जाती हैं। इस रसमें श्यामसुन्दरसे क्या सम्बन्ध है, इस बातका निर्णय होना कठिन है। कोई-कोई इसे कान्ताभाव या शृङ्गाररस भी कहते हैं। इस रसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि सभी भाव आते-जाते रहते हैं। इसमें जब श्रीमतीजी कृष्णकी सेवा करती

हैं तब दास्यभाव और जब श्रीकृष्ण राधिकाकी सेवा करते हैं तब सख्यभाव है। जैसे—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो पुरानन वेदन, भेद सुन्यो चित चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ, वह कैसो सुरूप औ कैसे सुभायन॥
हेरत हेरत हारि फिर्‌यो रसखानि, बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो कहूँ वह कुंज कुटीरमें बैठो पलोटत राधिका-पायन॥

(रसखान)

कभी-कभी श्रीमतीजी इसी चिन्तामें मग्न हो जाती हैं कि श्रीकृष्ण जब कुञ्जमें आते हैं तो उनके कोमल चरणकमलोंमें कंकड़-पत्थर-काँटे चुभते होंगे। यहाँ वात्सल्यभाव आ जाता है। इस रसमें कभी श्रीमतीजी श्रीकृष्ण बनती हैं और कभी श्रीकृष्ण राधा बनते हैं। एक भक्त कहते हैं—

मोरपखा, गरे गुंजकी माल, किये नवभेष, बड़ी छबि छाई।
पीतपटी दुपटी कटिमें लपटी, लकुटी 'हठी' मो मन भाई॥
छूटी लटैं, डुलैं कुंडल कान, बजै मुरली धुनि मंद सुहाई।
कोटिन काम गुलाम भये, जब कान ह्वै भानुलली बनि आई॥

(हठी)

इस रसमें श्रीराधाजी श्रीकृष्णनाम जपती हैं और वह श्रीकृष्ण-स्मरणमें ऐसी मग्न हो जाती हैं कि—

स्याम-स्याम रटत प्यारी आपहि स्याम भई।
पूँछत निज सखियनसों, प्यारी कहाँ गई॥

उधर श्रीकृष्ण राधा-राधा रटते हैं—

नामसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदु वेणुम्।

(श्रीजयदेवस्य—गीतगोविन्दात्)

कभी श्रीकृष्ण गान करते हैं तो श्रीराधिकाजी मनाती हैं, और कभी श्रीराधिकाजी गान करती हैं तो उन्हें श्रीकृष्ण मनाते हैं।

इस रसमें कभी-कभी उन्मत्तकी-सी दशा हो जाती है और प्रेमकी इतनी गाढ़ता होती है कि प्रेमीके लिये सर्वस्वका त्याग हो जाता है। जैसे—

घर तजौं, बन तजौं, नागर-नगर तजौं,
बंसीबट-तट तजौं, काहूपै न लजिहौं।
देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहो कैसे तजौं,
आज राज काज सब ऐसे साज सजिहौं॥
बावरो भयो है लोक, बावरी कहत मोकौं
बावरी कहेते मैं काहू ना बरजिहौं।
कहैया-सुनैया तजौं, बाप और भैया तजौं,
दैया तजौं मैया! पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥

(नागरीदास)

यह रस विलक्षण है, इसके विशेष लिखनेका अधिकार नहीं!

बोलो श्रीकृष्ण भगवान्की जय!

श्रीरामतत्त्व

प्रजावत्सल श्रीराम

कौसलपुरवासी नर-नारि वृद्ध अरु वाल।
प्रानहु तें प्रिय लागहीं सब कहँ राम कृपाल॥
(श्रीराम० बाल०)

उमा अवधवासी नर-नारि कृतारथरूप।
ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप॥
(श्रीराम० उत्तर०)

जगत्‌में अनेक राजा हो चुके हैं और होंगे; पर रघुकुलभूषण अवधेश श्रीरामके समान न कोई हुआ, न होगा। आज भी संसार-में जब कोई किसी राज्यकी प्रशंसा करता है तो सर्वोच्च प्रशंसामें वह यही कहता है कि यहाँ तो 'रामराज्य' है। इससे सिद्ध है श्रीरामका राज्यशासन ही आदर्श था। वास्तवमें यदि कोई सब इतिहासोंका तुलनात्मक अध्ययन करे तो उसे यही कहना होगा कि श्रीरामराज्यके सदृश सुशासन और किसीके भी राज्यकालमें नहीं हुआ। रामराज्यकी इतनी प्रशंसा क्यों है? इस बातको यदि कोई जानना चाहते हों तो देखिये—एक समय दशरथ महाराजके हृदयमें यह इच्छा हुई कि मैं वृद्ध हो गया हूँ, श्रीराम राज्यके सर्वथा योग्य हैं, इनको युवराजपदपर अभिषिक्त किया जाय। अपने इस मनोरथको महाराजने सभामें सबको सुनाया और सभीने सुनकर

अति हर्ष प्रकट किया एवं सभी महाराज दशरथसे अनुरोध करने लगे कि श्रीरामको शीघ्र ही युवराजपद दिया जाना चाहिये। इस समय राजा दशरथ प्रजाका भाव जाननेके उद्देश्यसे अवधवासी प्रजा तथा अन्यान्य राजाओंसे प्रश्न करते हैं—

'आप लोग मेरे कहनेसे ही श्रीरामको क्यों राजा बनाना चाहते हैं ? जब मैं धर्मानुसार राज्यशासन कर रहा हूँ तब आप लोग श्रीरामको क्यों राजा देखना चाहते हैं ? मुझे सन्देह हो रहा है, इसे आप दूर कीजिये।' उत्तरमें लोगोंने कहा—'हे राजन् ! आपके पुत्र श्रीराममें अनन्त गुण हैं, उन गुणोंके कारण ही हम सब लोग उनपर मुग्ध हैं और इसीलिये हम श्रीरामको अपना राजा देखना चाहते हैं।'

'श्रीराम सत्य व्यवहारके कारण सत्पुरुष कहलाते हैं। धर्मकी शोभा श्रीरामसे ही है, श्रीरामके बिना सभी अशोभन है। जिस प्रकार चन्द्रमा सब प्राणियोंको आनन्द देनेवाला है उसी प्रकार श्रीराम सब प्रजाको आनन्द देनेवाले हैं। क्षमामें श्रीराम पृथ्वीके समान हैं। बुद्धिमें श्रीराम बृहस्पतिके समान हैं। वीर्यमें श्रीराम साक्षात् इन्द्रके समान हैं। श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और शीलवान् हैं। श्रीराम किसीकी निन्दा नहीं करते। श्रीराम सब प्राणियोंसे सत्य और प्रिय बोलनेवाले हैं। श्रीराम समझानेवाले, चतुर, कृतज्ञ और जितेन्द्रिय हैं। श्रीराम बहुश्रुत, वृद्ध-ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाले हैं। श्रीराम देवता, मनुष्य और असुरोंके सब अस्त्रोंमें निपुण हैं। श्रीरामने समस्त विद्याओंको नियमित ब्रह्मचर्य-

के साथ अध्ययन करके व्रतस्नान किया है। श्रीराम वेदोंको अंग और उपांगोंसहित अच्छी प्रकार जाननेवाले हैं। श्रीराम गन्धर्व-शास्त्रोंके जाननेवाले हैं। श्रीराम कल्याणके आश्रय हैं। श्रीराम परम विनयी हैं। श्रीराम संग्राममें जाकर बिना विजय पाये नहीं लौटते। श्रीराम संग्रामसे लौटकर सब पुरवासियोंसे अपने परिवारके लोगोंके समान पुत्र, स्त्री, शिष्य, भृत्य और अग्निहोत्र आदिका कुशल-समाचार पूछते हैं। श्रीराम ब्राह्मणोंसे पूछते रहते हैं कि आपके छात्र-शिष्य आपकी सेवा तो करते हैं? श्रीराम जब किसीपर आपत्ति देखते हैं तो दुखी होते हैं और उसको दूर करते हैं। श्रीराम वृद्धोंकी सेवा करनेवाले हैं। श्रीराम सत्यवादी वीरोंकी उन्नति देखकर पिताके समान प्रसन्न होते हैं। श्रीराम धर्मका पालन करने-वाले हैं। श्रीराम मुस्कुराकर बोलनेवाले हैं और सदा प्रसन्न रहते हैं। श्रीरामकी किसीके साथ लड़ाई-झगड़ा करनेकी रुचि नहीं होती। श्रीराम किसी भी विषयमें आसक्त नहीं हैं। श्रीराम व्यर्थ क्रोध या हर्ष नहीं दिखाते। श्रीराम थोड़े भी उपकारसे प्रसन्न हो जाते हैं और अनेक अपकार करनेपर भी किसीसे द्वेष नहीं करते और श्रीराम प्रमादविहीन, आलस्यशून्य हैं।'

'ऐसे सत्यपराक्रमी लोकपालके सदृश महान् गुणी श्रीरामको समग्र पृथ्वी अपना स्वामी बनाना चाहती है।'

वास्तवमें रामराज्यमें प्रजाको जितना सुख था, उतना सुख और किसीके राज्यमें नहीं हुआ। निःसन्देह यह अति सौभाग्यकी बात हो, यदि हमें श्रीरघुनाथजी-जैसे राजाकी प्राप्ति हो। श्रीरामके बाल्यावस्थाके ही स्वाभाविक गुणोंसे प्रजा अत्यन्त मुग्ध थी, राज्या-

भिषेकके पूर्वसे ही बालक श्रीरामने अवधवासियोंके मनको चुरा लिया था। गोस्वामीजी महाराज दिखाते हैं—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता आग्या अनुसरहीं॥
जेहि बिधि सुखी होंहि पुर-लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥

(रामायण बाल०)

महाराज दशरथके मुखसे राम-राज्याभिषेककी बात सुनकर प्रजाके हर्षका पार नहीं रहा।

राम-राज-अभिषेकु सुनि हिय हरषे नरनारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥

(रामायण बाल०)

इधर श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारियाँ हो रही हैं, उधर प्रभुकी इच्छा कुछ और ही थी और हुआ भी वही। अवधके राज्य-शासनके स्थानमें वनका शासन और रक्षण श्रीरामको मिला। श्रीरामकी वनयात्राके समय प्रजाकी व्याकुलता देखिये—

सजि बन-साज-समाज सब बनिता बंधु समेत।
बंदि बिप्र-गुर-चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥
चढ़ि रथ सीयसहित दोउ भाई। चले हरषि अवधहि सिर नाई॥
चलत राम लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥
कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥
सबहिं बिचार कीन्ह मनमाहीं। राम लषन सिय बिनु सुख नाहीं॥
जहाँ राम तहँ सब सुख-साजू। बिनु रघुबीर अवध नहि काजू॥
बालक बृद्ध बिहाइ गृह लगे लोग सब साथ॥
तमसा तीर निवास किअ प्रथम दिवस रघुनाथ॥

(श्रीरामचरितमानस अयोध्या०)

इस प्रकार सब प्रजा श्रीरघुवंशभूषणके साथ वनगमनके लिये तैयार हो गयीं। पर अपनी प्रजाको सुख देनेवाले प्रजावत्सल राम सोचते हैं कि वनमें प्रजाको अनेक दुःख भोगने पड़ेंगे, वहाँ अवधके समान आराम नहीं है; अतः आप प्रजाको अनेक प्रकारसे समझाते हैं—

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदय दुख भयेउ बिसेषी॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहुबिधि राम लोग समुझाए॥
किए धरमउपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे॥

(श्रीरामचरितमानस अयोध्या०)

जब इस प्रकार बहुत समझानेपर भी अवधवासी प्रजा श्रीरामका संग नहीं छोड़ती, तब श्रीरामको बाध्य होकर रात्रिके समय प्रजाको सोई हुई छोड़कर वनगमन करना पड़ता है।

तदनन्तर जब श्रीभरतजी श्रीरामसे मिलनेको जानेकी इच्छा प्रकट करते हैं, उस समय पुरवासियोंके आनन्द और उत्साहको देखिये—

भरतबचन सब कहँ प्रिय लागे। रामसनेह-सुधा जनु पागे॥
अवसि चलिअ बन रामपहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोकसिंधु बूड़त सबहि तुम अवलंबन दीन्ह॥
कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलइ कर साजहिं साजू॥
जेहि राखहिं घर, रहु रखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी॥
कोउ कह रहन कहिअ नहि काहू। को न चहइ जग जीवनलाहू॥
नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना॥

(श्रीरामचरितमानस अयोध्या०)

इस प्रकार सब प्रजा श्रीरामसे मिलनेको व्याकुल होकर चित्रकूट जाती है और वहाँ प्रभुके दर्शन करती है।

जब रघुनाथजीके वनवासकी अवधि समाप्त हो गयी और वे अवध लौटकर आते हैं, उस कालमें प्रजाकी उत्सुकता देखिये—

रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुरलोग।
जहँ तहँ सोचहिं नारिनर कृसतनु रामवियोग॥

समाचार पुरबासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरषि उठि धाये॥
जो जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल वृद्ध कोउ संग न लावहिं॥
एक एक सन बूझहिं धाई। तुम्ह देखे दयालु रघुराई॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

श्रीराम इस प्रकार लोगोंके हृदयके आकर्षणके हेतु अवधनगरीमें पधारते हैं। श्रीरामका वनसे लौटकर अयोध्यामें आना राज्यके लिये नहीं था, वह था प्यारे भाई भरतके लिये और अवधवासी प्रजाके प्रेमके लिये। और फिर उनकी तीव्र प्रीतिके कारण ही आप राजसिंहासनपर बैठे थे।

दयालु श्रीरामका स्वभाव था कि वे दूसरेके दुःखको सहन नहीं कर सकते थे और इसी स्वभाववश भाई भरत और प्रजाके दुःखको मिटानेके लिये आपने राज्यशासन स्वीकार किया था।

अब श्रीरामके प्रजापालन-कालकी अवस्थाका कुछ वर्णन करते हैं। महामुनि वाल्मीकिजी कहते हैं—

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें स्त्रियोंको वैधव्य-दुःख नहीं था। सर्पभय और व्याधियोंका भय नहीं था। संसार डाकुओंसे शून्य हो गया था। कोई अनर्थ नहीं करता था। वड़ोंको अपनेसे छोटोंका प्रेतकार्य नहीं करना पड़ता था अर्थात् बाल या युवा-मृत्यु कभी नहीं होती थी, सब प्राणी प्रसन्न और धर्मपरायण रहते थे।

रामकी वृत्तिको देखकर कोई किसीकी हिंसा नहीं करता था, प्रजा रोग तथा शोकरहित थी, दीर्घायु भोगती और अनेक सन्ततियुक्त होती थी। सब वृक्ष पुष्प तथा फल-फूल प्रदान करते। प्रजाको आवश्यकतानुसार वर्षाद्वारा जलकी प्राप्ति होती। सुखदायक वायु बहती, मनुष्य अपने-अपने कर्मोंमें सन्तुष्ट रह उसीमें प्रवृत्त रहते। और प्रजा सत्यपरायण रहती। सारांश यह कि प्रजा सर्वसुलक्षण-सम्पन्न थी। गोस्वामीजी महाराज रामराज्यका वर्णन करते हैं—

राम राज बैठे त्रयलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बैर न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधरम निरत श्रुतिरीती॥
चारिहु चरन धरम जगमाहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
रामभगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गतिके अधिकारी॥
अलप मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा। सब सुंदर सब निरुज सरीरा॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निरदंभ धरमरत धुनी। नर अरु नारि चतुर सुभगुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहि कपट सयानी॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

प्रजावत्सल श्रीरामकी अवध और अवधवासियोंपर कितनी कृपा थी, इसका भगवान्‌की अपनी उक्तिसे ही पता लग जायगा। श्रीराम अयोध्या पहुँचनेपर पुष्पक-विमानमें बैठे हुए अपने मित्र विभीषण और सुग्रीवादिसे कहते हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा ॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद-पुरान-बिदित जग जाना ॥
अवधसरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ ॥
जनमभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
अति प्रिय मोहि इहाँके बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी ॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

दीनवत्सल श्रीराम

दीनको दयालु दानि, दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं, हौं देखौं दीन सोऊ ॥

(विनयपत्रिका ७८)

जगत्‌में दीन-दुखी और अनाथोंके सच्चे हितैषी और मित्र अधिक नहीं मिलते। साधारणतः लोग धनवान्, सम्पन्न, सबल और सुखी लोगोंकी ओर ही दौड़ते हैं। ऐसे सत्पुरुष कोई-कोई ही मिलते हैं जो दीन और आर्तके दुःखोंसे दुखी होते हों। हमारे चरित्रनायक श्रीरामका सम्पूर्ण हृदय केवल दीन, दुखी, अनाथोंके लिये ही था। इसीलिये दयालु राम आदर्श दीनवत्सल माने जाते हैं और उनका चरित्र सत्पुरुषोंके लिये मार्गप्रदर्शक समझा जाता है। बाल्यावस्थासे ही श्रीरामका हृदय स्वभावतः दयालु और पर-दुःखकातर रहा। शास्त्रोंमें श्रीरामके हृदयको कठोर-से-कठोर और कोमलसे भी कोमल बतलाया है—

कुलिसहुँ चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहिं चाहि।
चित खगेस रघुनाथ अस समुझि परइ कहु काहि ॥

(श्रीरामचरितमानस उत्तर०)

जो धन-जन-बलके मदसे गर्वित हैं, उनके लिये उनका

हृदय 'वज्रादपि कठोर' है; पर दीन-अनाथ-आर्तोंके लिये तो वह नवनीतसे भी अधिक कोमल है। बाल्यावस्थामें भी श्रीरामका यही स्वभाव था, वे किसी भी बालकको न तो कभी अप्रसन्न देख सकते थे और न किसीको रोने देते थे। जिस किसी प्रकारसे सबको प्रसन्न रखते और हँसाया करते। खेलमें स्वयं स्वेच्छासे हारकर दूसरे बालकोंको जिता देते और उन्हें वस्त्र-भूषण तथा अपना स्वादिष्ट भोजन-पदार्थ देकर प्रसन्न रखते। अवधके भाग्यवान् बालकोंकी भी ऐसी ही दशा थी, उनका चित्त भी जनमनमोहन श्रीरामके बिना क्षणभर नहीं लगता। पूज्यपाद गोस्वामीजी गाते हैं—

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपनतें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधु बदन रिसोहैं सुपनेहुँ लख्यो न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित, जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ॥
(विनयपत्रिका १००)

'जानकीवल्लभ श्रीरामका शील-स्वभाव सुनकर जिस पुरुषका मन प्रसन्न नहीं होता, शरीर पुलकित नहीं होता और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु नहीं आते, उसका इधर-उधर धूल फाँकते भटकना ही अच्छा है। बचपनसे ही पिता, माता, भाई, गुरु, दास, मन्त्री और सखा, कभी किसीने श्रीरामके मुखचन्द्रको स्वप्नमें भी कुपित होते नहीं देखा। वे सदा ही प्रसन्नमुख रहते थे। भाई और दूसरे बालक जो उनके साथ खेलते, उनकी हार और अन्याय श्रीराम सदा

देखते रहते थे। परन्तु अपनी जीतपर भी (उनको प्रसन्न करनेके लिये) हार जाते थे। उन लोगोंको पुचकार-पुचकारकर प्रेमसे दाँव देते और दूसरोंसे भी दिलाते थे।'

दशरथनन्दन श्रीरामकी दीनवत्सलता सार्वभौम है। वह न तो देश और कालसे परिच्छिन्न है और न व्यवहार और व्यक्तिसे ही। उनका सब काल तथा सब देशमें और सभीके साथ समान वात्सल्य-भाव है। उनके शत्रु-मित्र, उच्च-नीच या धनी-दरिद्र-भावसे कुछ भी व्यवहारभेद नहीं है। आवश्यकता है केवल दीन और आर्तभावकी।

कोसलकुमार रघुनाथजीकी दीनवत्सलताके कुछ उदाहरण पाठकोंके सम्मुख संक्षेपमें उपस्थित किये जाते हैं। देखिये—

दीनभावापन्न राजा जनकको श्रीरामने कैसा सम्हाला। जनकने अपनी अयोनिजा कन्या श्रीसीताजीका स्वयंवर रचा और निश्चय किया कि सीताको वही ग्रहण कर सकेगा जो बल-वीर्य और पराक्रमसे सम्पन्न होगा, उसपर निर्बल और अशक्तका अधिकार नहीं होगा। इस बल-वीर्य और पराक्रमकी परीक्षा होगी विशाल शम्भुचापकी प्रत्यञ्चा चढ़ानेसे। महाराज जनकके इस प्रकारके प्रणकी घोषणा सुनकर जनकपुरमें अनेक राजा आये, परन्तु कोई भी इस परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हो सके; यहाँतक कि—

न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा।

(वा० रामा० १ । ६६ । १९)

उस धनुषको कोई न तो उठा सका और न हिला ही सका।

तमकि तमकि तकि सिवधनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करहीं॥
जिन्हके कछु बिचार मनमाहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न, चलहिं लजाइ ।
मनहुँ पाइ भट-बाहुबल अधिक अधिक गरुआइ ॥
डिगइ न संभुसरासन कैसे । कामीवचन सतीमन जैसे ॥
सब नृप भए जोग उपहासी । जैसे बिनु बिराग संन्यासी ॥
(श्रीरामचरितमानस बाल०)

इस अवस्थामें मिथिलापतिकी कैसी दीन और भ्रान्त दशा हो गयी थी, तनिक उसका चित्र अवलोकन कीजिये—

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने । बोले बचन रोष जनु साने ॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी । बीरबिहीन मही मैं जानी ॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू । लिखा न बिधि बैदेहि बिआहू ॥
सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ । कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ ॥
जौं जनतेउँ बिनु भट महि भाई । तौ पन करि करतेउँ न हँसाई ॥
(श्रीरामचरितमानस बाल०)

जनक महाराजकी ऐसी दीनताको भला दीनवत्सल कब सहन करनेवाले थे ?

सोचमगन काढ़यो सही साहिब मिथिलाको ।
तौ सिवधनु मृनालकी नाईं । तोरहिं राम गनेस गोसाईं ॥
(श्रीराम० बाल०)

इस प्रकार श्रीरामने दीन हुए जनक महाराजके शोकको दूरकर शम्भुचाप तोड़ सीताको वरण कर लिया ।

दूसरी झाँकी देखिये ! निषाद दरिद्र है, नीचजाति है; परन्तु भगवान् उसे अभिमानरहित और दीनभावयुक्त देखकर अपना सखा बना लेते हैं एवं उसका बड़ा ही मान तथा आदर करते हैं ।

ऐसे राम दीन-हितकारी।
हिंसारत निषाद तामसवपु पसु समान बनचारी।
भेंट्यो हृदयँ लगाइ प्रेमबस नहिं कुल जाति बिचारी॥
(विनयपत्रिका १६६)

श्रीरघुबीरकी यह बानि।
नीचहूसों करत नेह, सुप्रीति मन अनुमानि॥
परम अधम निषाद पाँवर, कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों, प्रेमको पहिचानि॥
(विनयपत्रिका २१५)

निषादको अपना सखा बनाकर श्रीरामने इतना अधिक आदर दिया कि परम ज्ञानी श्रीवशिष्ठ-सरीखे मुनि भी उसको गले लगाकर मिलने लगे—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरितें दंडप्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटे। जनु महि लुठत सनेह समेटे॥
(श्रीराम० अयोध्या०)

मनुष्योंको अपनानेकी तो बात ही कौन-सी है। श्रीरामने पामर पशु-पक्षियोंको भी अपना लिया और ऐसा अपना लिया कि जिसकी कहीं तुलना नहीं है। रामके लिये प्राणोंकी बलि चढ़ानेवाले भक्तराज गीधके दर्शन कीजिये! जगज्जननी सीताको रावण हरकर ले जा रहा है। गीधराज जटायु जब यह सुनते हैं तो चटपट दौड़कर सीताको रावणके हाथसे छुड़ानेके लिये मार्गमें ही उसके रथको रोक लेते हैं। रावणके साथ जटायुका युद्ध होता है। 'रामकाज' लड़ते हुए जटायुके दोनों पंख रावण काट डालता है और इससे घायल होकर लाचार जटायु जमीनपर गिर पड़ते हैं। जटायुकी असमर्थताके अवसरमें रावण सीताजीको लेकर चला जाता है। इधर रघुकुलभूषण श्रीराम लक्ष्मणसहित सीताको

खोज करते-करते जटायुके पास पहुँचते हैं। यहाँ जटायुके साथ श्रीरामके व्यवहारको देखिये—

दीन मलीन दयालु विहंग परयो महि सोचत खिन्न दुखारी।
राघव दीनदयालु कृपालुको देख दुखी करुना भइ भारी॥
गीधको गोदमें राखि कृपानिधि नैनसरोजनमें भरि वारी।
वारहिं वार सुधारहिं पंख जटायुकी धूरि जटानसों झारी॥

दयालु राम गीधकी दीन दशा देख दुःखित हो गये और उसको अपनी गोदमें लेकर कुछ दिन जीवन धारण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

परन्तु उसने जीना स्वीकार नहीं किया और करता भी कैसे? वह कहने लगा—

जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचनगोचर आगे। राखउँ देह नाथ! केहि लागे॥

मरनेका इससे अधिक अच्छा अवसर फिर कब मिलनेको था? अन्तमें जटायु श्रीरामकी मुनिदुर्लभ सुकोमल गोदमें ही सदाके लिये शान्त हो जाते हैं।

श्रीराम कहते हैं—

परहित वस जिनके मनमाहीं। तिन्ह कहँ जग दुरलभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ कहा तुम पूरनकामा॥

इसके बाद जटायुकी क्रिया भगवान् स्वयं अपने हाथसे करते हैं—

अविरल भगति माँगि वर गीध गयउ हरिधाम।
तेहिकी क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

(श्रीरामचरितमानस अरण्य०)

पितु ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी, सठ, तू चाहत सुख पायो॥

इससे भी आगे बढ़िये—हमारे दीनवत्सल श्रीरामके दरबारमें चेतन मनुष्य और पशुपक्षी ही नहीं, जड़ पाषाणको भी वही स्थान मिलता है। देखिये—

गौतमपत्नी अहल्या पतिके शापसे पाषाण होकर गौतम-आश्रममें स्थित है। उसमें न सेवाकी योग्यता है और न श्रीरामको बुलानेका सामर्थ्य ही है। है केवल दीनता और जड़ता। दयालु रामने इस जड़की उपेक्षा नहीं की। मिथिलापुरी जाते समय मार्गमें जनशून्य गौतम-आश्रममें उस पाषाणको देखकर प्रभु श्रीराम-जी विश्वामित्र मुनिसे पूछने लगे—

बेद पढ़ै न कहूँ द्विजवृंद, बनी यह कैसी बढ़ावत भै-सी।
सूखे रसाल-तमालनके तरु, जानि परै कछु बाति अनैसी॥
कूजैं नहीं खग, गूँजैं न भौंर, लखी ललिते नहिं आजु लौं ऐसी।
कीजै कृपा, कहिए मुनिनाथ जू, मारग माँझ सिला यह कैसी?

विश्वामित्र मुनि उत्तर देते हैं—

गौतमनारी शापबस उपलदेह धरि धीर।
चरनकमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर॥

अनाथनाथ दयामय दीनबन्धु दयाके वश हो शिलाको चरणसे छूते हैं और उनके चरणका स्पर्श पाते ही अहल्या उसी क्षण अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाती है—

परसत पद पावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जनसुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
(श्रीराम० बाल०)

श्रीरामकी दयालुताका कहाँतक वर्णन किया जाय? दण्डक-वनमें विचरते हुए श्रीराम एक जगह हड्डियोंका ढेर देखकर मुनियोंसे पूछते हैं कि 'यह क्या है?'—

अस्थिसमूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया॥

मुनियोंने उत्तर दिया—

निसिचरनिकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये॥

मुनियोंके दुःखको देखकर स्वामी रघुनाथजीके नेत्रोंमें जल आ गया, भगवान्‌ने उनके दुःख दूर करनेकी उसी क्षण प्रतिज्ञा की—

निसिचरहीन करौं महि, भुज उठाय पन कीन्ह।
सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(श्रीराम० अरण्य०)

इस प्रकार श्रीरामके प्रतिज्ञा करनेके बाद एक समय श्रीमती सीता प्रभुको राक्षसोंके वधरूप हिंसात्मक कर्मसे विरत करनेके उद्देश्यसे प्रभुसे कहने लगीं—'स्वामिन्! इस संसारमें कामजन्य व्यसन तीन प्रकारके होते हैं—एक मिथ्या भाषण, दूसरा पर-स्त्री-सेवन और तीसरा शत्रुताके बिना हिंसा करना। हे राघव! आपने न तो कभी आजतक मिथ्या शब्द उच्चारण किया है और न कभी भविष्यमें आप कर ही सकते हैं। अधर्मदायक परस्त्रीगमनरूप व्यसन भी आपमें नहीं है। आपको स्वप्नमें भी परस्त्रीकी अभिलाषा नहीं होती। आप पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले, धार्मिक और सत्यपरायण हैं। आपमें धर्म और सत्य पूर्णरूपसे विराजमान हैं। आप इन्द्रियविजयी हैं, यह बात सभी जानते हैं; परन्तु

आप शत्रुता न होनेपर भी राक्षसोंके वधरूप हिंसाकर्मको क्यों करना चाहते हैं ?' इस प्रकार भगवान्‌के प्रति श्रीसीताजीने प्रेम और नम्रतासे अनेक बातें कहीं, तब रघुकुलमणि श्रीरामने उत्तर दिया—'हे धर्मज्ञे जनकात्मजे ! तुमने सभी हितकर और प्रिय बातें कही हैं । तुमने स्वयं यह बात भी स्वीकार की है कि क्षत्रिय-को धनुष इसलिये धारण करना चाहिये जिससे किसी भी आर्तका शब्द कभी सुनायी न दे । हे सीते ! इस दण्डकारण्यवासी तीक्ष्ण व्रतोंके पालन करनेवाले मुनिगण मुझे अपना रक्षक मानकर मेरी शरण हो गये हैं । वे क्रूर कर्म करनेवाले राक्षसोंसे उत्पीड़ित हो रहे हैं, अत्यन्त दुखी हैं । ये सब बातें मुनियोंने मुझसे कही हैं । मैंने उनसे पूछा, 'क्या करना चाहिये'—तब मुनियोंने कहा कि 'ये राक्षस सदा ही हमलोगोंके यज्ञ, व्रत, तपादि अनुष्ठानमें विघ्न करते हैं और बिना ही कारण हमलोगोंको सताते हैं । यद्यपि हमलोग तपके बलसे इन राक्षसोंको नष्ट कर सकते हैं, किन्तु ऐसा करनेसे हम अपने तप और साधनसे गिरते हैं। अतएव हे राम ! आप हमारी रक्षा कीजिये ।' हे सीते ! इस प्रकार उनके दीन वचनोंको सुनकर मैंने प्रतिज्ञा कर ली है और अब मैं प्राण रहते कभी प्रतिज्ञाके प्रतिकूल नहीं चल सकता । मैं चिरकालसे सत्यको अपना इष्ट समझता हूँ ।' इसीलिये श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

अस प्रभु दीनदयाल हरि कारन रहित कृपाल ।
तुलसिदास सठ ताहि भजु छाडु कपटजंजाल ॥

(रामा० बाल०)

प्रभुकी दयालुताका दूसरा उदाहरण देखिये ! सुग्रीव अपने

ज्येष्ठ भ्राता वालिके द्वारा निगृहीत हो, घरसे निकल पड़ता है और वालिके भयसे कहीं भी आश्रय न पाकर ऋष्यमूकपर्वतपर आश्रय लेता है। इस पहाड़पर वालि शापके भयसे नहीं जा सकता था। वालिने सुग्रीवकी सम्पत्ति तथा उसकी स्त्रीको हर लिया था। ऐसी दीन दशामें पड़ा हुआ सुग्रीव जब भगवान् श्रीरामका आश्रय ग्रहण करता है, तब वे उसके दुःखोंको सुनकर प्रतिज्ञा करते हैं—

सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म-रुद्र-सरनागत गए न उबरहिं प्रान॥

सुग्रीवके दुःखसे श्रीराम यहाँतक व्यथित होते हैं कि उस दुर्दशाग्रस्त दीनको अपना मित्र मानकर उसके सारे दुःखोंको अपने ऊपर ले लेते हैं। मित्रधर्मका निरूपण करते हुए आप कहते हैं—

जे न मित्रदुख होंहि दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥
निजदुख गिरिसम रज करि जाना। मित्रके दुख-रज मेरुसमाना॥
देत-लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपतिकाल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि करब काज मैं तोरे॥

(श्रीराम० किष्किन्धा०)

कितनी दयालुता है! श्रीराम बलगर्वित वालिका वध करते हैं, उसके अपराधका यथोचित दण्ड देते हैं; परन्तु जब वालिके बल और गर्वका नाश हो जाता है, तब तुरन्त ही उसी दीन कातर वालिके प्रति ऐसी दयालुता दिखाते हैं जिसकी कोई सीमा नहीं—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि-सीस परसेउ निज पानी॥

अचल करउँ तनु राखहु प्राना। (रामा० किष्किन्धा०)

मित्रके प्रति जैसी दयालुता है, वैसी ही शत्रुके प्रति भी है। श्रीरामकी दृष्टिमें कोई भी शत्रु नहीं, वे सभीके निज जन हैं। हाँ, अभिमानी, गर्वी, दुराचारीके लिये वे साक्षात् कालसदृश हैं; परन्तु दीनके लिये तो वे परम मधुर, रमणीय, मनमोहन और अति घनिष्ट आत्मीय हैं।

जगत्में सच्चा दीनवत्सल एक पतितपावन श्रीरामके सिवा और कौन हो सकता है? प्राकृत मनुष्य कैसा भी क्यों न हो— राजा हो या अति बलवान्, साधु हो या विद्वान्, क्षमाशील हो या दयावान्, कोई कितना भी ऊँचा क्यों न हो, फिर भी उसकी शक्ति और सामर्थ्य परिमित ही है। कहा है—

एकै दानिसिरोमनि साँचो।
जेइ जाच्यो सोइ जाचकतावस फिरि बहु नाच न नाच्यो॥
(विनय० १६३)

इसके सिवा यह बात भी है कि प्राकृत जीवकी दया भी तभी प्राप्त होती है, जब उसपर जगत्पतिकी दया होती है। कहा है—

मुनि सुर नर नाग असुर साहेब तौ घनेरे।
पै तौलौं जौलौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥ (विनय०)

इसके अतिरिक्त जगत्में प्राकृत जनकी उदारता किसी-न-किसी स्वार्थको लेकर ही होती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं॥
(विनय० १६२)

ऐसे राम दीन हितकारी।
अति कोमल करुनानिधान, बिनु कारन पर-उपकारी ॥
(विनय० १६६)

एक बात और है, यदि दूसरे किसीसे भीख मिल भी गयी तो उससे सदाके लिये भिखमंगापन नहीं मिटता। उससे एक काल या कुछ कालके लिये क्षणिक सुख होता है, दुःखका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। पर श्रीरामका दान तो कुछ विलक्षण ही है।

और काहि माँगिए, को माँगिबो निवारै?
अभिमतदातार कौन दुख-दरिद्र दारै? (विनय०)

इन सबके अतिरिक्त एक बात और भी है, स्वामीको छोड़कर अन्य किसीके भी सामने हाथ फैलाना बड़े कलंककी बात है। परन्तु अपने स्वामीसे माँगनेमें आपत्ति नहीं। यहाँ तो अपना वैसा ही अधिकार है जैसा पिताकी सम्पत्तिपर पुत्रका और स्वामीकी सम्पत्तिपर स्त्रीका अधिकार होता है। गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

'तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।'
'जे जे तैं निहाल किए, फूले फिरत पाये।' (विनय०)

यह बात अवश्य है कि प्रभुकी कृपासे प्रभुकी ही शक्तिको प्राप्तकर प्रभुके दास चाहे जैसे दयालु बन जाते हैं। उन दासोंमें उनका अपना कोई प्रभाव और बल नहीं रहता। जो कुछ है, सब प्रभुका है। प्रभु जो चाहें वही कार्य उनसे करा सकते हैं और उनका चाहे जितना गौरव भी बढ़ा सकते हैं। यह सब प्रभुकी इच्छा है। अतएव छल-कपट त्यागकर अद्वितीय दीनवत्सल

जानकीवल्लभ श्रीरामके चरणोंमें दीन होकर उपस्थित होनेसे सदाके लिये दीनताका नाश हो सकता है—

कोमलचित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥

भक्तवत्सल श्रीराम

नान्या स्पृहा रघुपते हृदये मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(श्रीरामच० सुन्दर०)

अखिलभुवनपति भगवान् जब अपने भक्तोंके हृदयमें मिलनेकी उत्कट उत्कण्ठा देखते हैं, अथवा जब अपने भक्तोंको विपत्तिग्रस्त समझते हैं, तब भक्तोंकी प्रीति और सुखके लिये वे स्वयं इस धराधाममें पधारते हैं—

फिरत धाम वैकुंठ तजि, भक्तजननके काज।
जोइ जोइ जन मन भावई, धारत सोइ तन साज॥

यद्यपि भगवान्‌ने श्रीगीतामें अपने अवतरणका कारण यह बतलाया है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु-

पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।'

तथापि अधिक विचारनेसे भगवान्‌के अवतरणका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि वे अपने प्रिय भक्तोंसे साक्षात् मिलनेके लिये और अपनी रमणीय लीलामें उन्हें सम्मिलित करके उनकी मनोकामना पूर्ण करनेके लिये ही प्रकट होते हैं । यदि कहें कि फिर अन्यान्य कारण क्यों बतलाये गये हैं ?—तो इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि अन्यान्य कारण भी होते हैं, पर वे सब गौण होते हैं । मुख्य कारण उसे समझना चाहिये जिसके लिये स्वयं अवतार धारण करनेके अतिरिक्त दूसरे उपायोंसे काम ही नहीं चल सकता और गौण कारण वह है जिसमें इच्छा हो तो भले ही स्वयं पधारें अन्यथा अन्यान्य उपायोंसे भी काम चल सकता है। यदि हम 'अधर्मको दूर करके धर्मकी स्थापना' को ही मुख्य कारण मानें तो यह असङ्गत है, क्योंकि धर्मस्थापनके अन्य उपाय भी हैं । भगवान् अपने भक्त और साधुओंके द्वारा भी यह कार्य करवा सकते हैं । दुष्टोंके विनाशको मुख्य कारण मानें तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अपने भक्तोंको शक्ति देकर सहज ही भगवान् यह कार्य भी करा सकते हैं । इस स्थलमें इस शङ्काको स्थान नहीं है कि भगवद्भक्त भगवान्‌की शक्ति पाकर उपर्युक्त कार्य नहीं कर सकेंगे, भगवत्-शक्तिसे तुच्छ-से-तुच्छ जीव भी महान्-से-महान् बनकर सब कुछ कर सकता है और अत्यन्त समर्थ भी तुच्छ बन जा सकता है—

जो चेतन कहँ जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य।
अस समरथ रघुनाथ कहँ भजहिं जीव ते धन्य॥
(रामा० उत्तर०)

ताकहँ जग कछु अगम नहि, जापर हरि अनुकूल।
तेहि प्रताप बड़वानलहि जारि सकै खल तूल॥
मसकहि करहिं विरंचि सम, अजहि मसक तें हीन।

भगवत्कृपासे सब कुछ सम्भव है, इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं। यह सब होते हुए जब भक्तके हृदयमें अपने प्रभुसे मिलनेकी चाह जागृत होती है और जब उस चाहका स्वरूप ऐसा उत्कट बन जाता है कि—

देह-गेहकी सुधि नहीं, टूट गयी जग-प्रीत।
'नारायण' गावत फिरै प्रेम-भरे रस-गीत॥
प्रेमसहित गद्गद गिरा, कढ़त न मुखसों बात।
'नारायण' महबूब बिन और न कछू सुहात॥
मनमें लागी चटपटी, कब निरखूँ श्रीराम।
'नारायण' भूल्यो सभी खान पान विश्राम॥

इस प्रकारकी अवस्थामें जब वह मिलनाकांक्षी भक्त परम व्याकुल होकर हृदयेशको पुकारता है, तब उसके पास किसी प्रतिनिधिको भेजनेसे काम नहीं चल सकता। इस अवस्थामें भगवान्को स्वयं भक्तोंके इच्छानुरूप स्वरूपमें आना पड़ता है; क्योंकि अनन्य भक्तोंकी यह भी एक विचित्रता है कि वे भगवान्के जिस एक रूपके उपासक होते हैं उसके सिवा उसी भगवान्के अन्य रूपके दर्शनसे उन्हें तृप्ति नहीं होती; यद्यपि वे उनमें कोई भेद नहीं मानते। जब श्रीराम दण्डकारण्यमें पधारते हैं और सुतीक्ष्ण

मुनिको पता लगता है कि श्रीराम यहाँ आये हैं, तब वे उनके दर्शनार्थ व्याकुल हो उठते हैं। सुतीक्ष्णजी अवधेशकुमारके उपासक थे और उनसे मिलनेके लिये श्रीरामको उनके आश्रममें जाना भी था, परन्तु श्रीरामके आगमनकी खबर पाते ही मुनिकी क्या दशा होती है—जरा ध्यानसे देखिये !

प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठपर करिहहिं दाया॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवककी नाईं॥
एक बानि करुनानिधानकी। सो प्रिय जाके गति न आनकी॥

(श्रीराम० अरण्य०)

सुतीक्ष्ण मुनि भगवान्‌के प्रेममें इतने विह्वल हो गये कि उनको अपने तन-मनकी और मार्गकी भी सुध-बुध नहीं रही—

निरभर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहि सूझा। को मैं चलेउ कहाँ नहि बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

सुतीक्ष्ण मुनिकी यह दशा थी। इतनेमें ही रघुकुलभूषण श्रीरामजी वहाँ पहुँच गये और अपने प्यारे भक्तकी प्रेमदशा पेड़की ओटसे देखने लगे—

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥

भक्तवत्सल श्रीराम अब अपने भक्तसे दूर नहीं रह सके—

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भवभीरा॥

प्रभुको अपने भक्तके हृदयमें प्रकट होकर भी सन्तोष नहीं हुआ, अतः भगवान् अपने भक्तको ध्यानसे जगानेके लिये आगे बढ़े—

मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस-फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥

कमललोचन श्रीराम सुतीक्ष्णके पास आकर मुनिको ध्यानसे जगाने लगे।

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा॥
भूपरूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप दिखावा॥

मुनिके हृदयसे अवधेशकुमार श्रीराम-रूपको हटाकर आप चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपमें प्रकट हो गये, तब—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन फनि मनि बिनु जैसे॥

यहाँ श्रीरामोपासक सुतीक्ष्णजी विष्णुरूपसे सन्तुष्ट नहीं हैं; यद्यपि श्रीराम और विष्णुमें भेद नहीं है तथापि भक्तको तो अपने ईप्सित रूपकी ही चाह रहती है—

सुतीक्ष्ण मुनिका ध्यान टूट जाता है और वे सामने प्रत्यक्ष श्रीसीतारामको देखकर प्रणाम करने लगते हैं—

आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिवर बड़भागी॥

(श्रीराम० अरण्य०)

यहाँ सुतीक्ष्णके लिये भगवान्‌को श्रीरामरूपसे स्वयं आना ही पड़ता है; प्रतिनिधिकी बात तो दूर रही, अपने ही अन्य रूप-से भी काम नहीं चलता।

यदि यह कहा जाय कि भगवान् भक्तोंको ज्ञान प्रदानकर ऐसी चाहसे मुक्त क्यों नहीं कर देते अथवा मुक्ति प्रदान करके उन्हें सन्तोष क्यों नहीं करा देते?

इसका उत्तर यह है कि ऐसे रूप, धाम और लीलाके उपासक भक्त आरम्भसे मोक्षकी चाह न रखकर ही साधन करते हैं। उन्हें मुक्तिकी परवा ही नहीं होती, वे तो केवल अपने उपास्यको ही चाहते हैं। ऐसे भक्तोंके भावको स्वयं भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

मुझमें आत्मसमर्पण करनेवाला भक्त एक मेरे सिवा ब्रह्माके पदको, इन्द्रके पदको, सार्वभौम राज्यको, पातालके राज्यको, योगसिद्धिको अथवा मोक्षको भी नहीं चाहता। अनन्य भक्त वे ही होते हैं जो मुक्तिमें भी स्पृहारहित हैं—'ये मुक्तावपि निस्पृहाः' और जिनको भगवान्‌के सिवा अन्य कोई भी अभिलाषा नहीं है—'अन्याभिलाषिताशून्यम्।' भक्त तो चाहते हैं केवल एक अपने प्यारे प्रभुको, जो सबका आधार और सब कुछ देनेवाला है। पर वे भक्त उससे किसी अन्य दानको न चाहकर स्वयं दाताको ही चाहते हैं। अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

आधे निमेषके लिये भगवच्चिन्तन छोड़नेसे यदि त्रिलोकी-

का समस्त ऐश्वर्य भी प्राप्त होता हो तो भी भगवच्चरणकमलोंका प्रेमी भगवच्चिन्तनका त्याग नहीं करता ।

यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।

इसी भक्तिका आश्रय लेकर भक्त सारे ब्रह्माण्डके शिरोमणि भगवान्‌को अपने वशमें कर लेते हैं ।

बतलाइये, इस भावके भक्तोंको भगवान् मुक्ति या ज्ञान देकर उनसे कैसे छूट सकते हैं ? ऐसे भावुकोंकी इच्छापूर्त्तिके लिये ही तो उन्हें स्वयं इस मर्त्यलोकमें आना पड़ता है । यहाँ प्रतिनिधि-द्वारा काम नहीं चलता । यदि कोई कहे कि ऐसे भक्तोंको तो कुछ भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये ? इतनी इच्छा भी उनमें क्यों होती है ? हाँ, ठीक है, उन्हें और कुछ भी इच्छा नहीं होती; परन्तु वे अपनी प्रभुसेवाकी चाह नहीं छोड़ सकते । इसीसे वे—

मुकुति निरादरि भगति लुभाने । (रामा० उत्तर०)

अतएव भगवान्‌के अपने नित्य शाश्वत अमृतधामसे आकर यहाँ अवतीर्ण होनेका मुख्य कारण भक्तोंका आनन्दवर्द्धन, उनसे प्रत्यक्ष मिलन तथा उनका सेवाग्रहण ही होता है । यह अवश्य है कि अवतार ग्रहण करनेपर भगवान् लोकहितकर अनेक कार्य करते हैं, बहुत-से जीवोंका उद्धार कर देते हैं और शेषके लिये तथा भविष्यत्‌में होनेवालोंके लिये अपने धामका मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं ।

यदि कोई यह कहे कि भगवान्‌के अवतार न लेकर जब-जब भक्तोंकी इच्छा हो तब-तब उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो जानेसे भी तो काम चल सकता है । इसका उत्तर यह है कि कहीं-कहीं

ऐसा भी होता है, भक्त ध्रुवजीके लिये यही हुआ था। परन्तु बात यह है कि भगवान्‌के भक्तगण अनोखे और विचित्र भाववाले होते हैं। मनु-शतरूपाने उनको पुत्ररूपसे ही प्राप्त करना चाहा। भगवान्‌के साथ मनुजीका वार्त्तालाप सुनिये! मनुजी कहते हैं—

दानिसिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहौं सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभुसन कवन दुराउ॥
देखि प्रीति सुनि वचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥
आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥
(श्रीराम० बाल०)

जब भगवान् कौशल्याजीके यहाँ चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए, तब भी माता कौशल्या भगवान्‌से प्रार्थना करती है—

माता पुनि बोली, सो मति डोली, तजहु, तात! यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला, यह सुख परम अनूपा॥
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना, ह्वै बालक सुरभूपा।
(रामा० बाल०)

भक्त कागभुशुण्डिजीकी चाह देखिये—

जब जब राम मनुजतनु धरहीं। भगतहेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जनममहोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥
लघु बायस बपु धरि हरिसंगा। देखउँ बालचरित बहुरंगा॥
लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं, तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठन परइ अजिरमहँ, सोइ उठाइ पुनि खाउँ॥
(रामा० उत्तर०)

भक्तिमयी शबरीजीकी आशाका आनन्द लूटिये—

जब भगवान् श्रीशबरीके आश्रममें आते हैं तब शबरी कहती है, मेरे गुरु मतंग ऋषि कह गये थे कि—

रामो दाशरथिर्जातः परमात्मा सनातनः।
आगमिष्यति सैकाग्रध्याननिष्ठा स्थिरा भव।

(अध्यात्मरा० ३।१०।१३-१४)

'सनातन परमात्मा दशरथके पुत्र राम यहाँ आवेंगे, तू एकाग्र चित्तसे ध्यानपरायण होकर यहाँ स्थिर रह।'

शबरीजीको अनेक कालसे श्रीरामदर्शनकी लालसा लगी थी, वह प्रभु श्रीरामको खिलानेके लिये नित्य स्वादिष्ट फलोंका संग्रह किया करती थी—आज वही स्वादभरे सरस संगृहीत फल श्रीरामके भेंट करती है—

कंद मूल फल सरस अति दिए रामकहुँ आनि।
प्रेमसहित प्रभु खायऊ बारहिं बार बखानि॥

भगवान्‌ने श्रीशबरीके दिये हुए फलोंको निःसंकोच प्रेमसे खाया और फलोंकी बड़ाई करते-करते नहीं थके। अन्तमें शबरीने श्रीरामके सम्मुख अपने प्राण त्याग दिये, तब श्रीरामने अपने हाथसे माताकी भाँति शबरीका अन्त्येष्टिसंस्कार और उसकी ऊर्ध्वक्रिया की। श्रीरामकी भक्तवत्सलताका कहाँतक वर्णन किया जाय?

इस प्रकार उनके भक्त अनेक प्रकारकी आशा लगाये रहते हैं—कोई सख्यरसके आस्वादनकी इच्छा करते हैं, तो कोई दास्य-रसकी; कोई माधुर्यरसकी, तो कोई वात्सल्यरसकी और कोई शान्तरसकी। ऐसे सभी भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिये भक्त-

वत्सल भगवान् श्रीरघुनाथजीका अवतार है। प्रभुके साथ सम्बन्ध केवल भक्तिद्वारा ही होता है, चाहे वह किसी भी भाववाली हो। भगवान् श्रीशबरीके प्रति कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगतिकर नाता॥
जाति पाँति कुल धरम बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगतिहीन नर सोहइ कैसें। बिनु जल बारिद देखिअ जैसें॥

(रामा० आरण्य०)

भक्तिद्वारा मनुष्य भगवान् श्रीरामका आत्मीय बन जाता है। देखिये, वनवासी पशुजाति वानरोंने अपने भक्तिबलसे श्रीरामके हृदयपर कैसा अधिकार कर लिया। गुरु वशिष्ठके प्रति स्वयं श्रीराम अपने वानर भक्तोंके लिये कहते हैं—

ए सब सखा सुनिअ मुनि मेरे। भए समरसागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु तें मोहि अधिक पिआरे॥

(रामा० उत्तर०)

पूज्यपाद गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

प्रभु तरुतर कपि डारपर, ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न रामसो साहेब सीलनिधान॥

जे ग्यान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुरदुरलभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि, सब आस परिहरि, दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव, नाथ सो समरामहे॥

(रामा० उत्तर०)

शरणागतवत्सल श्रीराम

श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि।

श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥
(श्रीबुधकौशिककृत रामरक्षास्तोत्र, २९)

शरणागति समस्त साधनोंकी पराकाष्ठा है, सबका फल है और इस शरणागतिका फल है परम ऐश्वर्यकी प्राप्ति । वास्तवमें शरणागतिका फल अवर्णनीय है । फल कहनेसे तो शरणागति-भावकी लघुता होती है । अवधेशकुमार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी शरणागतवत्सलता भुवनविख्यात है; जिस समय रावणसे निगृहीत होकर विभीषण श्रीरामके शरण आता है, उस समयका श्रीरामका भाव देखिये—

विभीषण अपने चार अनुचरोंसहित श्रीरामके शिविरमें आकाशमार्गसे आता है और सुग्रीवादि वानरोंको अपना परिचय देकर सर्वलोकशरण्य श्रीरामके आश्रयमें ले चलनेके लिये अनुरोध करता है । वह कहता है—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥
(वा० रा० ६ । १७ । १७)

'सर्व लोकोंको शरण देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको मेरे आनेकी सूचना आप दे दें ।'

विभीषणके वचनोंको सुन और उसको वहीं छोड़कर सुग्रीवादि वानर श्रीरघुनाथजीको उसके आगमनकी सूचना देते हैं । श्रीराम सब वानरोंकी सम्मति चाहते हैं, इसपर सुग्रीव कहता है—'भगवन् ! शत्रुसेनासे अकस्मात् यह शत्रु विभीषण अपनी सेनामें आया है, मौका पाकर अपनी सेनाका नाश वैसे ही कर देगा

जैसे उल्लू कौवोंका नाश कर देता है। यह राक्षस शूरवीर और कपटी है, अन्तर्धान हो सकता है और इच्छानुरूप स्वरूप भी धारण कर सकता है। इसका विश्वास नहीं करना चाहिये। यह रावणके गुप्तचररूपसे हमारा भेद लेने आया है।

जानि न जाइ निसाचरमाया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद लेन हमार सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

(रामा० सुन्दर०)

'इसको रावणका भेजा हुआ समझिये। इसका विश्वास कभी नहीं करना चाहिये। यह पहले विश्वस्तभाव दिखाकर पीछेसे मौका पाकर धोखा देगा। अतः इसे मन्त्रियोंसमेत मार ही डालना चाहिये।'

अङ्गद कहता है—'विभीषण शत्रुके यहाँसे आता है, उसपर सन्देह अवश्य करना चाहिये। अवसर पाकर वह प्रहार कर सकता है। हित-अहितका विवेचन करके बलसंग्रह करना चाहिये। जिसमें अधिक दोष हो, उसको त्यागना चाहिये और जिसमें अधिक गुण हो उसीका संग्रह करना चाहिये। यदि आपको विभीषणमें अधिक दोष प्रतीत हों तो त्याग दें और अधिक गुण प्रतीत हों तो ग्रहण करें।'

जाम्बवान् कहता है—'जब यह युद्धके समय आया है, तब अवश्य ही रावणका भेजा हुआ है।'

मैन्द वानर कहता है—'यह रावणका छोटा भाई है। मधुर वचनोंसे इससे सब समाचार पूछने चाहिये। फिर यह सद्बुद्धि है या असद्बुद्धि, इसका भी यथोचित विचार करना चाहिये'।

पवनकुमार श्रीहनूमान्‌जी कहते हैं—'हे प्रभो ! आप सब शास्त्रोंके ज्ञाता हैं; शक्तिशाली, सर्वसमर्थ हैं। आपको मैं क्या मन्त्रणा दूँ ? आपके विचारके सामने साक्षात् बृहस्पतिकी भी मन्त्रणा तुच्छ है; मैं स्वेच्छासे, आसक्तिसे या तर्कसे कुछ भी नहीं कहता। केवल आज्ञानुरोधसे अपना विचार आपके चरणोंमें निवेदन करता हूँ। विभीपणको यहाँ बुलाकर उससे सब वृत्तान्त जानना चाहिये। सहसा यहाँ बुलाना भी अनुचित है, पर दूत भेजकर सब बातें जानना भी ठीक नहीं जँचता। विभीपण यदि आपको रावणसे अधिक पराक्रमी और गुणवान् समझकर आया है तो उसने बड़ी बुद्धिमानीका काम किया है। यदि दूत भेजकर परीक्षा की जायगी तो वह शंका करेगा और दुखी भी होगा। उसकी बोलचालमें कोई दुष्ट भाव नहीं दीखता। उसका मुख प्रसन्न है, इसलिये विभीषणपर सन्देह नहीं होता। यदि वह धूर्त्त होता, तो शंकाशून्य स्वस्थचित्तसे आपके पास नहीं आ सकता। रावणको बलगर्वित, पापपरायण देखकर उसका नाश करानेके लिये तथा राज्यकी कामनासे वह यहाँ आया है। अतः आपको विभीषणका संग्रह करना चाहिये।'

हनूमान्‌के इन नीति, धर्म, भक्ति और रहस्ययुक्त अपने मनके-से वचन सुनकर जानकीवल्लभ श्रीरामने कहा—'मित्रो ! आप सबने मेरे हितके लिये ही परामर्श दिया।' अब मेरी इच्छा सुनिये—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥

(वा० रा० ६। १८। ३)

'मित्रभावसे आये हुए विभीषणको मैं कभी नहीं त्याग सकता। यदि कुछ दोष भी हो तो भी ऐसे आगत जनको नहीं त्यागना चाहिये। यही सत्पुरुषोंकी स्तुत्य सम्मति है।'

तदनन्तर सुग्रीवने फिर कहा—'श्रीराम! विभीषण दुष्ट हो या शिष्ट, पर वह राक्षस तो है ही। आपत्तिके समय जब उसने अपने भाईको त्याग दिया है तो फिर वह किसका त्याग नहीं कर सकेगा? जातिवाले और समीपवर्ती लोग कभी-कभी शत्रुओंकी सहायता किया करते हैं; परन्तु जब आपत्ति आती है तब उनपर ही प्रहार करने लगते हैं, यह भी इन्हीं सब कारणोंसे आया होगा। इसके सिवा शास्त्रोंमें भी शत्रुके बलका ग्रहण करना दोषयुक्त बतलाया है, क्योंकि इसमें धोखा ही होता है।' इस प्रकार सुग्रीवने भगवान् श्रीरामके सामने अनेक युक्तियुक्त तर्क उपस्थित किये। श्रीरामने इन विचारयुक्त तर्कोंको सुन, प्रसन्न हो सुग्रीवकी बड़ी प्रशंसा की और कहा, 'मित्र! यह राक्षस दुष्ट हो या शिष्ट, मेरा कुछ भी अपकार नहीं कर सकता; क्योंकि मैं चाहूँ तो पृथ्वीपर जितने राक्षस, पिशाच, दानव और यक्ष हैं, सबका अँगुलीके अग्रभागसे ही विनाश कर दूँ। जब कपोत-सरीखे पक्षीने भी शरण आये शत्रुका अपना मांस देकर सत्कार किया था, तब भला, मैं इनका कैसे त्याग कर सकता हूँ?

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥

स चेद्भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति।
स्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम्॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः।
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः॥
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥
(वा० रा० ६।१८।२७—३१)

'हे परंतप! जब शत्रु दीनतासे हाथ जोड़कर शरणकी याचना करता हुआ प्रणाम करने लगे तो अपने ऊपर क्रूरतारूप दोष न आने देनेके लिये भी उसको न मारे। शत्रु दुःखमें पड़ा हो, गर्वसे भरा हो अथवा दूसरोंके भयसे शरणमें आया हो, तब भी कृतात्मा पुरुष प्राणोंकी कुछ भी परवा न कर उसकी रक्षा करे। जो पुरुष भय, मोह या कामसे शरण आये हुए शत्रुकी अपनी शक्तिके अनुसार न्यायपूर्वक रक्षा नहीं करता, वह पापका भागी होता है और संसारमें उसकी निन्दा होती है। रक्षा चाहनेवाला पुरुष यदि रक्षा न पाकर रक्षककी आँखोंके सामने मारा जाता है तो रक्षकके सब पुण्य मरनेवालेको मिलते हैं और वह स्वर्गको चला जाता है। इस प्रकार शरणागतकी रक्षा न करनेमें बड़ा भारी दोष है और उनकी रक्षा न करना स्वर्गसे भ्रष्ट करनेवाला, अपयश देनेवाला और बलवीर्यको नष्ट करनेवाला है।'

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि॥

सत्पुरुषोंके व्यवहारको दिखाकर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीराम अपने व्रतकी अर्थात् नियमकी घोषणा करते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० ६।१८।३३)

'यह मेरा व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर, 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कह मुझसे शरणकी याचना करता है, मैं उसको सर्व प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'

मम पन सरनागत-भय-हारी॥
कोटि विप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(रामा० सुन्दर०)

तदनन्तर भगवान् आज्ञा देते हैं कि—'हे सुग्रीव!

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा० ६।१८।३४)

यह व्यक्ति विभीषण हो चाहे स्वयं रावण हो, तुम उसको लिवा लाओ, मैंने उसे अभय दान दे दिया।'

जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाईं॥

प्रभुकी इस प्रकारकी घोषणाको जो पुरुष जानता है और जो उसपर विश्वास करता है वह अन्य समस्त आश्रयोंको त्यागकर एकमात्र शरणागतभयहारी भगवान्के ही शरण चला जाता है, वह कभी इधर-उधर नहीं भटकता। भगवान्की शरणागतिसे वह

सदाके लिये निर्भय हो जाता है । भक्त भर्तृहरिजी महाराज अपने चित्तको उपदेश देते हुए कहते हैं—

> नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
> स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः ।
> चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
> र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम् ॥
>
> (भर्तृ० वैराग्यशतके १४४)

'रे चित्त ! देख, यदि तू किसी साधारण राजा या धनीके दरबारमें जाता है तो उनके दरवाजेपर पहुँचते ही द्वारपाल तुझसे कहता है—'अभी मिलनेका समय नहीं है, स्वामी एकान्तमें हैं ।' फिर दूसरे समय जाता है तो कहता है कि 'स्वामी सोते हैं । मुलाकात न होगी ।' यदि भिक्षुक वहीं द्वारपर बैठ रहता है तो वह कहता है 'यहाँ मत बैठो, स्वामी देखेंगे तो नाराज होंगे ।' अतएव रे चित्त ! अब भी सावधान हो और सांसारिक लोगोंके आश्रयकी आशा त्यागकर उस जगत्पति प्रभुके दरबारकी शरण ले, जहाँ न तो द्वारपर रोकनेवाला द्वारपाल है और न कोई कठोर वचन ही सुनानेवाला है, प्रत्युत जो उसी क्षण अनन्त आनन्दको देनेवाला है ।'

भगवान् श्रीरामकी आज्ञा पाकर सुग्रीव और हनुमदादि अनुचर विभीषणको प्रभुके सम्मुख ले आते हैं और विभीषण जब भगवान्के सम्मुख आता है तो भगवान्की रूपमाधुरी देखकर वह चित्रवत् हो जाता है—

बहुरि राम छविधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी॥

और यह कहता हुआ प्रभुके चरणोंमें छिन्नमूल वृक्षकी भाँति गिर पड़ता है—

श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन, सरनसुखद रघुबीर॥
(रामा० सुन्दर०)

भगवान् श्रीरामकी शरणागतवत्सलता अनुपमेय है। प्रभुपाद श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

नाहिन और कोऊ सरनलायक दूजो
श्रीरघुपतिसम विपतिनिवारन।
काको सहज सुभाउ सेवकबस,
काहि प्रनतपर प्रीति अकारन॥
जनगुन अलप गनत सुमेरु करि
अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।
परम कृपालु भगतचिंतामनि
बिरद पुनीत पतित-जन-तारन॥
(विनयपत्रिका २०६)

श्रीशिवतत्त्व

वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शङ्करम् ।

(अपराधभञ्जनस्तोत्रात्)

भगवान् शिवकी चर्चा सच्चिदानन्दघन परमेश्वरकी ही चर्चा है। मैं तो यही समझता हूँ कि शिवकी महिमा गानेमें हम किसी साम्प्रदायिक उद्देश्यको सम्मुख न रखकर उस परात्पर प्रभुकी ही मंगलमयी चर्चा करते हैं, जो वेद-शास्त्रोंमें शङ्कर, रुद्र, महेश्वर, विश्वनाथ, महादेव इत्यादि नामोंसे भी अनेक स्थलोंमें वर्णित है। अतएव कभी भगवान्‌के किसी नाम-रूपपर, और कभी किसी नाम-रूपपर विचार प्रकट करना युक्तियुक्त ही है। वही लेखनी, वाणी और मन सार्थक है जो विश्वपतिके गुण-महिमा-रहस्यका प्रकाश करे। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।

तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
(१२।१२।४८-४९)

'जिस कथामें भगवान् अधोक्षजकी चर्चा नहीं है वह असत् और मिथ्या है। जिस कथामें भगवान्के गुणगणवर्णनका प्रसङ्ग है, वही सत्य मङ्गलदायिनी और पुण्यमयी है। जो उत्तमश्लोक भगवान्के यशसे पूर्ण हो वही परमरमणीय और पल-पलपर नित्य नवीन है; वही महान् उत्सवस्वरूप है और वही मनुष्योंके शोक-सागरको सुखानेवाला है। जगत्में जिस प्रकार खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषामें सब मनुष्योंकी एक-सी रुचि नहीं होती, वैसे ही भगवत्-उपासनामें भी सबकी एक-सी रुचि होना सम्भव नहीं है। यह अवश्य है कि युक्त और वैध आहार-विहार चाहे भिन्न-भिन्न प्रकारका क्यों न हो, उसका परिणाम शरीररक्षा आदि समान ही होता है; परन्तु उसीके अयुक्त और अवैध होनेपर फलमें समानता नहीं रहती। वैसे ही उपासनामें नाम-रूपका भेद होनेपर भी युक्त और वैध उपासनाका परिणाम सर्वत्र एक ही होता है, अवैध-अयुक्त होनेसे ही फलमें भेद हो जाता है।

प्राचीन आर्य ऋषियोंने सच्चिदानन्दघन परमात्माके अनेक नामों और रूपोंके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी उपासनाकी विधि

शास्त्रोंमें बतलायी है। इन सब विभिन्न उपासनाके भेदके मूलमें भाव, उद्देश्य, हेतु सब युक्तियुक्त रक्खे गये हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि जनसाधारण अपने-अपने भाव, उद्देश्य और रुचिके अनुसार नाम-रूपकी उपासनाको पसन्द करते हैं। सकाम उद्देश्य-के अतिरिक्त यदि निष्कामभावसे भक्ति-श्रद्धासे युक्त होकर भगवान्‌के किसी भी नाम-रूपकी उपासना की जाय तो परिणाम सबका कल्याण ही है। पुष्पदन्त भक्तने कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्न ७)

'तीनों वेद (वेदविहित मार्ग), सांख्य (कापिलमतानुसार मार्ग), योग (पतञ्जलिऋषिनिर्दिष्ट मार्ग), पाशुपत शास्त्र (शैवमत), वैष्णव (वैष्णवमत) इत्यादि अनेक विभिन्न मार्ग हैं; इनमेंसे किसीके मतसे कोई मार्ग श्रेष्ठ और हितकर है तो किसीके मतसे कोई मार्ग। परन्तु मनुष्योंके रुचिवैचित्र्यके कारण अर्थात् रुचिभेदसे सरल और कुटिल अर्थात् कठिन प्रतीत होनेवाले नाना मार्गोंसे चलनेवाले भक्त उसी एक देवाधिदेव महादेवको प्राप्त होते हैं, जैसे अनेक नदियोंका जल भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सीधा या टेढ़ा घूम-फिरकर अन्तमें एक समुद्रमें ही जाकर शान्त होता है।'

जब हम तात्त्विक दृष्टिसे शिव-नाम-रूपको विचारते हैं तो यही समझमें आता है कि यह उपासना अखिल भुवनपति महेश्वर-

की ही है जो सारे जगत्के उत्पत्तिकर्ता, पालनकर्ता और संहार-कर्ता हैं, जो सारे जगत्में अव्यक्तरूपसे व्याप्त हैं और जिनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उपनिषदोंमें कहा है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥
(श्वेता० ३।२)

'रुद्र एक है, उन्होंने (जाननेवालोंने) दूसरा नहीं ठहराया है। जो अपनी शक्तियोंसे सब लोकोंपर शासन करता है, जो सब लोगोंके पीछे वर्तमान है अर्थात् सबमें वर्तमान है और सारे भुवनोंको रचकर रक्षा करता तथा अन्तकालमें समेट लेता है।'

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥
महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥
(श्वेता० ३।११-१२)

'जिनके सर्वत्र मुख, सिर और ग्रीवा हैं, जो सम्पूर्ण जीवोंके हृदयमें विराजमान हैं, सर्वव्यापी तथा सबके अन्दर रमे हुए हैं वही भगवान् शिव हैं। वह शिवभगवान् पुरुष हैं, महान् प्रभु हैं, सत्त्वके प्रवर्त्तक अर्थात् अस्तित्वके आधार हैं; अविनाशी ज्योतिः-स्वरूप हैं तथा हर एक पदार्थमें अपनी पुण्यतम प्राप्तिके स्वामी हैं, अर्थात् उन्हीं भगवान् शिवकी कृपासे सर्वत्र उनके पवित्र स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है।' शास्त्रोंमें कहीं-कहीं शिवको संहारकर्ता

कहा है, वह भी ठीक ही है; क्योंकि एक ही अखिल भुवनपति महेश्वर तीन रूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारकर्ता बनते हैं। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

(१३।१६)

'वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे (आकाशके सदृश) परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें पृथक्-पृथक्के सदृश प्रतीत होता है और वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे धारण-पोषण करनेवाला, रुद्ररूपसे संहार करनेवाला और ब्रह्मारूपसे उत्पन्न करनेवाला है।'

यहाँ कार्यभेदसे एक ही परमात्माके तीन नामोंका वर्णन है। श्रुतिमें भी कहा है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छान्दोग्य० ३।१४।१)

'यह सब ब्रह्म है; क्योंकि उससे उत्पन्न हुआ है, उसीमें लीन होता है और उसीमें स्थित है। अतएव शान्त होकर उसीके ध्यानमें स्थित होना चाहिये।'

यहाँ भी एक ही परमात्माको भिन्न-भिन्न कार्योंका कर्ता बतलाया है। जगत्पति परमात्मा तीन नहीं हैं, एक ही हैं; एकहीके कार्य-भेदसे नाम-रूपोंका भेद पाया जाता है। जो लोग शिवको केवल संहारकर्ता मानकर उपासते हैं वे लोग शिवके एक ही अंगकी उपासना करते हैं। उनकी उपासना पूर्ण उपासना नहीं समझी

जा सकती। यह बात पाठकोंकी सेवामें पहले भी निवेदन की जा चुकी है कि उच्च कोटिका साधक या भक्त अपने इष्टदेवको किसी भी अंशमें खर्व नहीं कर सकता। उसके इष्टदेवसे ऊँचा और कुछ नहीं है, उसमें अपूर्णता किसी भी अंशमें नहीं है। अपरिमित, अपरिच्छिन्न शक्तिवाला ही सर्वकाल और सर्वदेशव्यापी होता है। उपर्युक्त वर्णनसे भगवान् शिवके साकाररूपमें कुछ भी विरोध नहीं आता। विष्णु भगवान्के जिस प्रकार दो रूपोंका वर्णन पाया जाता है--एक अव्यक्त (व्यापक) और दूसरा व्यक्त (साकार), उसी प्रकार भगवान् शिवके भी दो रूप हैं---एक अव्यक्त (सर्वव्यापक) और दूसरा (कैलासपुरीनिवासी साकार शिव)। साकार शिवकी अनेक लीलाओं और चरित्रोंका वर्णन पुराणोंमें मिलता है। शिव-भक्त शिवकी जिस रूपसे उपासना करता है, सच्ची भक्ति और श्रद्धा होनेसे उसी रूपमें उनका दर्शन भी पाता है। साकाररूपमें भी प्रधान दो भेद हैं---एक हस्तपदमस्तकादि पूर्णाङ्ग-विशिष्ट दिव्य स्थूल रूप (यहाँ 'स्थूल' शब्दसे पाञ्चभौतिक देह नहीं समझनी चाहिये) और दूसरा सूक्ष्म रूप अर्थात् शिवलिङ्ग। शिव भगवान्-के स्वरूपका जो वर्णन पाया जाता है वह उच्च कोटिके वैज्ञानिक भावोंसे पूर्ण है। उसका किञ्चित् दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है---

भगवान् शिव विरक्त और त्यागी हैं, श्मशान उनका निवास-स्थान है, भस्म उनका अङ्गराग है, पिशाच उनके सहचर हैं, वे मुण्डमालको धारण करनेवाले हैं---

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।

(शिवमहिम्न २४)

ऐसे प्रभु जिनके उपास्यदेव हैं वे भक्त कभी विषय-भोगाभिलाषी नहीं हो सकते। प्रायः शिवके उपासक त्यागी, संन्यासी और विरक्त पुरुष ही देखे जाते हैं, विरक्तकी उपासना विरक्त होनेसे ही बनती है। शिवका वस्त्र है पशुचर्म, भूषण हैं रुद्राक्ष और सर्प, केशप्रसाधनके स्थानमें है जटा, अवलम्बन भिक्षा, वाहन वृषभ तथा आक-धतूरा आदि गन्धहीन पुष्पोंसे उनकी पूजा होती है। ये सभी वैराग्यके लक्षण हैं। ऐसे त्यागमूर्ति भगवान्‌की उपासना वैराग्यवान् ही करते हैं, क्योंकि जब स्वयं प्रभु वैराग्यकी मूर्ति बनकर वैराग्यकी शिक्षा दे रहे हैं तब विषय-भोग-सम्पदायुक्त होकर उनकी सेवा कभी शोभा नहीं देती। शिवप्रेमी क्या मनोरथ करता है—

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्यार्तवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पाप्लुतदृशः ॥

(भर्तृहरेः वैराग्यशतके ८५)

'जहाँ शुभ्र ज्योत्स्ना फैली हुई हो, निर्मल स्थल हो, ऐसे गंगातटपर सुखसे बैठे रहें; जब सब ध्वनि शान्त हो जाय तब रात्रिमें आर्तस्वरसे 'शिव-शिव-शिव' कहते हुए संसारके भोगोंसे व्याकुल हों और आनन्दके आँसुओंसे नेत्र पूर्ण हो रहे हों; ऐसी अवस्था हमारी कब होगी ?'

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरि-
द्गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः।

सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥

(भर्तृहरेः वैराग्यशतके १०४)

'महादेव ही एक देव हों, गंगा ही नदी हो, एक कन्दरा ही घर हो, दिशा ही वस्त्र हो, काल ही मित्र हो, किसीसे दीनता न करना ही व्रत हो और, कहाँतक कहें, वटवृक्ष ही हमारी वल्लभा हो।' इत्यादि शिवभक्तोंके भावोंके नमूने हैं। शिवका वर्ण श्वेत है, जो वर्णहीन शुद्ध ब्रह्मका प्रतिपादक है।

शिवके त्रिनेत्र—त्रिकाल अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमानके ज्ञान या सर्वज्ञताके प्रतिपादक हैं।

शिवका त्रिशूल—आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक तीन प्रकारके शूलोंसे बचानेवाला है।

शिवका मुण्डमालाका धारण—मृत्युको स्मरण करानेवाला है, जिससे संसारमें आसक्ति नहीं रह जाती।

शिवका विषपान—विषय-भोग ही विष हैं। विषयभोगाभिलाषी विषजर्जरित समझे जाते हैं। वे लोग त्याग-वैराग्यकी महिमाको नहीं जानते। संसारभोग ही उनका चरम लक्ष्य है, परन्तु विचारवान् ज्ञानी भोग-विलाससे उदासीन रहते हैं और त्याग-वैराग्य ही उनका लक्ष्य होता है। कहा भी है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(भगवद्गीता २। ६९)

इस प्रकारसे शिव विषयमें गरूपी विषको पान करनेवाले हैं अर्थात् इस विषसे छुड़ानेवाले हैं।

यहाँ प्रकृति देवी ही जगन्माता पार्वतीके रूपमें विराजमान हैं, क्योंकि जगत्की उत्पत्ति प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही होती है। हमलोग जो शिवके वक्षःस्थलपर कालिकाकी मूर्तिको देखते हैं उसमें भी यही दिखाया गया है कि निष्क्रिय, शुद्ध ब्रह्मरूप शिव शान्तरूपसे स्थित है और प्रकृति या मायारूपी कालिका उस ब्रह्मके आश्रित एक देशमें स्थित है। यहाँ एक प्रकारसे जगत्का ही स्वरूप दिखाया जाता है, जो कुछ भी दृश्य हमलोगोंके इन्द्रिय-गोचर होते हैं वे सब मायिक हैं अथवा प्रकृति देवीके स्वरूप हैं जो सामने आधेयरूपसे खड़े हुए स्पष्ट दीखते हैं। पर जब साधक गुरुकृपासे शिक्षा प्राप्तकर, प्राकृत सब वस्तुओंसे अपनी दृष्टिको हटाकर, उसके जड़-मूलमें क्या तत्त्व है—इस बातकी खोज करता है तब वह शान्तरूपसे स्थित, सबके आधार, कल्याणरूप शिवको पाकर कल्याणको प्राप्त होता है—

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेता० ५। १३)

'सारे विश्वको घेरनेवाले अर्थात् उसके आधाररूप उस एकमात्र देवको जानकर सब फाँसोंसे मुक्त हो जाता है।'

अब शिवके सूक्ष्म रूपके विषयमें विचार कीजिये। यह भी युक्तियुक्त उपासना है, वास्तविक भावसे अनभिज्ञ होनेके कारण लोग नाना प्रकारकी शङ्काओंके जालमें पड़ जाते हैं। श्रद्धापूर्वक

विचार करनेपर ऐसी शङ्काओंके लिये कोई स्थल नहीं रहता। शिवका सूक्ष्म रूप अथवा शिवलिङ्ग शिवस्वरूपकी ही उपासना है, शिवके किसी अङ्गविशेषकी उपासना नहीं है। लिङ्ग शब्दका अर्थ है 'चिह्न'—जैसे विष्णुकी पूजा शालग्रामशिलामें की जाती है वैसे ही शिवकी पूजा पाषाण या मृन्मयी शिवलिङ्गमूर्तिमें की जाती है। यहाँ शिवलिङ्ग शब्दमें अन्य किसी प्रकारकी कुत्सित भावना करना अज्ञतामात्र है। शास्त्रोंमें अनेक देवताओंकी आराधना उनकी हस्तपदविशिष्ट मूर्त्ति न बनाकर अन्य किसी भी आकारके पाषाण आदिमें भी करनेकी विधि है और इस आराधनकालमें उस-उस पाषाण आदिके आकारकी भावना नहीं रक्खी जाती, बल्कि उन-उन देवोंकी ही भावना की जाती है जिनकी पूजा होती है। इस बातको समझनेके लिये अधिक दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, केवल आप उन पूजाके मन्त्रोंके अर्थोंका ज्ञान कर लीजिये। बस, पता लग जायगा कि वह पाषाणकी पूजा नहीं है, देवताओं-की ही पूजा है। उदाहरणरूपमें पार्थिव शिवलिङ्ग बनाकर इस प्रकार ध्यान किया जाता है—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।...

जब इस प्रकारके मन्त्रोंको स्मरण करके हम ध्यान करते हैं तब हमारी पूजा भी उसीकी होती है जिसका वर्णन मन्त्रमें किया जाता है, अन्यकी नहीं।

इस प्रकार शिवभगवान्‌के सभी साकार रूप अत्यन्त

भावपूर्ण और शिक्षाप्रद हैं, जिनका दिग्दर्शन संक्षेपसे ऊपर कराया गया है। विस्तारभयसे अब यह विषय यहाँ ही छोड़ दिया जाता है और अन्तमें यही निवेदन है कि 'शिव' शब्द कल्याणवाचक, मंगलवाचक है। शिवका नाम 'आशुतोष' अर्थात् 'शीघ्र प्रसन्न होनेवाला' भी है।

तुलसीदासजीने कहा है—

को जाचिये संभु तजि आन।

दीनदयालु भगत-आरतिहर, सब प्रकार समरथ भगवान।

....

सेवत सुलभ उदार कलपतरु, पारवतीपति परम सुजान।

(विनयपत्रिका ३)

किसी भी मनुष्यको शैव नाम-रूपसे द्वेष रखकर वैष्णवीय नाम-रूपकी उपासनासे लाभ नहीं होता और न वैष्णवीय नाम-रूपसे द्वेष रखकर शैव नाम-रूपकी उपासनासे ही लाभ होता है। शास्त्रोंमें तो इस भेदभावको दूर करनेके लिये यहाँतक दिखाया गया है कि राम, कृष्ण, विष्णु आदिने शिवकी उपासना की है और शिवजीने विष्णु, राम, कृष्ण आदिकी उपासना की है। वास्तवमें इनमें कोई भेद नहीं है। उपासना चाहे जिस नाम-रूपकी हमलोग करें, किसीमें कोई भी हानि नहीं है; पर अन्य किसी नाम-रूपसे द्वेषभाव न रखना ही बुद्धिमत्ता है।

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ (यजु० ३४।१)

श्रीशक्ति-उपासना-तत्त्व

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते॥
(मार्क० ८८।१०)

शक्ति-उपासना प्राचीन है। अवश्य ही वर्तमानकालीन शक्ति-उपासनामें, मध्ययुगकी उपासनाके अनुसार अति प्राचीन-कालकी उपासनासे बहुत कुछ भिन्नता आ गयी है। काली, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, योगमाया तथा अन्य किसी भी देवीकी उपासना साधारणतः शक्तिकी उपासना कही जाती है। हाँ, अपने भाव और उद्देश्यके भेदके अनुसार पूजाविधिमें भेद है; वैदिक, पौराणिक तथा तान्त्रिक उपासनामें भी भेद है। मैं यहाँ पूजाके भेदोंकी विस्तारसे समालोचना करना नहीं चाहता, पर यह अवश्य है कि आधुनिक शक्ति-उपासनामें प्रायः कई बड़े दोष आ गये हैं और वे मध्ययुगकी तान्त्रिक उपासनाकी रीतिपर अभीतक चल रहे हैं। यद्यपि इधर उनमें कई प्रकारके हेरफेर हुए हैं, परन्तु

हिंसात्मक विधि अभीतक बनी हुई है ही। उदाहरणतः देवी-पूजामें जहाँ-तहाँ बकरे, महिष तथा अन्य पशुओंकी बलिकी रीति अभीतक प्रचलित पायी जाती है। मध्ययुगकालमें यह बलिप्रथा यहाँतक बढ़ गयी थी कि पूजा और धर्मके नामपर नरबलितक भी की जाती थी। यह प्रथा यद्यपि अब नहीं है, पर पशुओंकी बलि रागद्वेष और भोगकामनाके वशीभूत होकर मन्दिर और देवस्थानोंमें अब भी दी जा रही है। हाँ, कुछ प्रदेशोंमें और कुछ जातियोंमें आज भी वैदिक, पौराणिक रीत्यनुसार बिना पशुबलिके शक्तिपूजा होती दिखायी देती है; परन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं। बड़े खेदकी बात है कि मातृपूजाके लिये पशुओंकी हत्या करनेमें अच्छे-अच्छे विद्वान् पण्डित भी सम्मत हैं और शास्त्रोंमें भी पशुबलिकी सम्मति और निषेध दोनों प्रकारके वचन मिलते हैं। ऐसी अवस्थामें शक्ति-उपासक भाई यदि उदार हृदयसे निःस्वार्थ भावसे इस विषयपर गम्भीर विचार करें तो यह उनकी समझमें आ जायगा कि ऐसी हिंसात्मक रीति निःसन्देह अवैध और अयौक्तिक है। धर्मके नामपर ऐसे अनाचार सर्वथा त्याज्य हैं। महात्मा बुद्धदेवके अवतरणके पूर्व पशुहिंसायुक्त उपासनाका प्रचलन था और उन्होंने इस अनाचारको सर्वप्रकार अकल्याण-कारी समझकर इसके मूलोच्छेदनके लिये भगीरथ प्रयत्न किया था और उसमें उन्हें सफलता भी मिली थी। उन्होंने सारे जगत्‌में उस समय 'अहिंसा परमो धर्मः' सिद्धान्तका प्रचार किया था और करोड़ोंकी संख्यामें इस धर्मके माननेवाले हो गये थे। परन्तु अफसोस! समयके परिवर्तनके साथ-साथ मनुष्योंकी भोगलोलुपताकी

पुनः वृद्धि हुई और फिर देवदेवीकी पूजाके नामपर अपनी रसनेन्द्रिय-को चरितार्थ करनेवाली हिंसात्मक पूजा बढ़ने लगी। कोई भी हृदयवान् पुरुष इसको युक्तिसङ्गत कहनेका साहस नहीं करेगा। यह केवल उन्हीं लोगोंद्वारा प्रतिष्ठित है जो आमिषभोजी हैं और वही अपने स्वार्थवश इसका समर्थन भी करते हैं। इस बातको सभी स्वीकार करेंगे कि देव और देवी उसीको कहेंगे जो दैवी सम्पदासे पूर्ण हो और दैवी सम्पदाका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार किया गया है—

> अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
> दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
> अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
> दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
> तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
> भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
>
> (१६। १-३)

इन छब्बीस प्रकारके गुणोंमें अभय, सत्त्वसंशुद्धि, अहिंसा, भूतदया, अलोलुपता, मार्दव—ये विशेष विचारणीय हैं। 'अभय' से यहाँ स्वयं निर्भय होना और अन्य सब जीवोंको अपनी ओरसे अभयदान देना अभिप्रेत है। 'सत्त्वसंशुद्धि'से यहाँ 'अन्तःकरणकी सब प्रकारकी निर्मलता' समझनी चाहिये। 'अहिंसा' का तात्पर्य है मन, वाणी और शरीरसे किसी भी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाना। 'भूतदया'का अर्थ है सब जीवोंके प्रति निस्स्वार्थभावसे दया करना। 'अलोलुपता'का मतलब है भोग तथा लोलुपताका अभाव। 'मार्दव'का अर्थ हृदयकी कोमलता है।

प्रिय पाठकगण ! आप स्वयं ही सोच सकते हैं कि कोई देवी या देवता अपने लिये पूजाके बहाने किसी जीवकी हत्या करनेसे प्रसन्न होगा, या बलिदानको अङ्गीकार करेगा ? जो देवी चराचर जगत्की माता है वह अपने लिये जीवहिंसाकी स्वीकृति कैसे दे सकती है ? पाठकगण यह न समझें कि मैं देवी-उपासना-का विरोधी हूँ या उसे निन्दनीय समझता हूँ, मैं तो शक्ति-उपासनाका पक्षपाती ही हूँ । हाँ, उपर्युक्त हिंसात्मक विधिसे मेरी सहानुभूति नहीं है, कोई भी कल्याणकामी शक्ति-उपासनामें इस प्रथाको पसंद नहीं करेगा । यह प्रथा आमिषभोजी उपासकोंने अपनी वासनासे ही प्रचलित की है । सभी कल्याणकामी भाइयोंसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि शक्ति-उपासनामें जीवहिंसात्मक प्रथाको सर्वथा निकालकर शुद्ध सात्त्विक पूजा करें और यदि बलि देना है तो माताके सम्मुख आत्माभिमानका बलिदान दें । माताका सच्चा सेवक वही है जो जगत्की ममता और अभिमानको बलि देकर माताकी आज्ञानुसार अथवा माता जैसे चलाती है वैसे चलता है । जैसे परमहंस श्रीरामकृष्णजी महाराज अपने लिये कहा करते थे, 'तुमि यन्त्री, आमि यन्त्र; तुमि गृही, आमि घर; तोमार कर्म तुमि करो माँ, लोके बोले करि आमि ।' अर्थात् मैं बाजा हूँ, आप बजानेवाली हैं; मैं घर हूँ, आप घरमें रहनेवाली मालकिन हैं; आप ही सब कुछ कर रही हैं, अज्ञानसे लोग अपनेको कर्त्ता मानते हैं । भाव यह है कि जैसे माता चलावें वैसे ही चले । अपना कर्तृत्वाभिमान जरा भी न रक्खे, इसीको आत्मबलिदान कहते हैं । यह बलिदान

कल्याणमार्गमें अवश्य सहायक है। यदि कोई भाई ऐसा प्रश्न करें कि कल्याणकामीको पशुहिंसा नहीं करनी चाहिये, पर सांसारिक भोगसुखके चाहनेवाले यदि ऐसा करें तो क्या हानि है? उत्तरमें मेरा यह निवेदन है कि संसारके सुख प्रारब्धसे अतिरिक्त हिंसात्मक कृत्यसे कभी नहीं मिल सकते और फिर उन्हें देगा ही कौन? क्योंकि कोई देव या देवी तो हिंसा चाहते नहीं। हिंसा तो एक आसुरी कृत्य है; फिर जो अचिन्त्य असीम शक्ति है, जो सबके शुभाशुभ कर्मोंके फलको देनेवाली है वह शक्ति-माता ऐसी हिंसात्मक आसुरी पूजा क्योंकर स्वीकार करेगी? अधिकन्तु हिंसाका फल दुःख और कष्ट ही मिलता है। अतएव माताके नामपर कोई भाई भी ऐसी भूल न करें। जगत्‌में कोई कैसा ही बलवान्, धनी, विद्वान्, सामर्थ्यवान् क्यों न हो, ईश्वरीय न्यायराज्यमें उसे पापका फल दुःख और कष्ट तथा धर्मका फल सुख और आनन्द भोगना ही पड़ता है। उस अमित शक्तिके सामने सभीको झुक जाना पड़ता है। उसके न्यायके विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कर सकता। आप लोग जानते हैं, सब धर्मोंने अहिंसाको परम धर्म माना है और सभी शास्त्र और ऋषियोंने भी इसे स्वीकार किया है। जो लोग अहिंसा-धर्मका पालन करनेवाले हैं उनसे कोई भी धर्माचरण बाकी नहीं रह जाता। सब धर्म इसके अन्दर आ जाते हैं।

मैं तो यही कहूँगा कि जो लोग माताके नामपर हिंसाके पक्षपाती हैं वे केवल परम्परागत प्रथा, भोगलालसा और अज्ञानके

वशीभूत होकर ऐसा करते हैं। आधुनिक युगमें इस रहस्यको जाननेवाले कई ऐसे शक्तिके अनन्य उपासक हो गये हैं जिनके पास हिंसाकी गन्ध भी नहीं थी, तथापि उन्होंने उस अचिन्त्य शक्तिरूपा देवीका साक्षात् दर्शन और उससे सम्भाषण किया था। उनकी कृपासे अनेक जीवोंका हित हुआ है और अब भी हो रहा है। यद्यपि वे लोग पाञ्चभौतिक शरीरसे इस समय वर्तमान नहीं हैं, परन्तु उनके उपदेश और आचरण सदैव चिरस्मरणीय हैं। ऐसे महापुरुषोंके दो एक नाम आपलोगोंके संम्मुख मैं प्रकट करूँगा, जिनकी कृपावर्षा भारतमें ही नहीं बल्कि भारतसे बाहर भी हो रही है। परम श्रद्धेय पूज्यपाद परमहंस श्रीरामकृष्णदेव तथा भक्तशिरोमणि रामप्रसाद महात्माको कौन नहीं जानता? बंगालमें तो घर-घरमें इनकी गुणगाथा गायी जाती है। ऐसे तत्त्ववेत्ता ज्ञानियोंकी पूजा परिच्छिन्न नहीं थी। वे लोग अनन्त चेतन-शक्तिकी ही देवीरूपसे उपासना करते थे। कल्याणकामी उपासकको चाहिये कि अपने उपास्यमें कभी भी परिच्छिन्नभाव न आने दे। उपासना चाहे किसी भी रूपकी क्यों न हो और किसी भी भावसे क्यों न हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं। गीतामें कहा है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ (९। १७)

मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण

करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूँ और जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। यहाँपर यह दिखलाया गया है कि उस सर्वव्यापी चेतन सत्ताकी मातारूपसे या पितारूपसे अथवा स्वामीरूपसे—किसी भी रूपसे उपासना कर सकते हैं, पर भाव पूर्ण और अनन्य होना चाहिये। पूर्णकी उपासनासे ही पूर्णकी प्राप्ति होती है और अपूर्णकी उपासनासे अपूर्णकी। उपनिषद्में लिखा है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
(बृह० ५।१।१)

बंगालमें मातृभावसे उपासनाकी प्रथा अधिक प्रचलित है, क्योंकि जीवमात्रको माता सबसे अधिक प्रिय और श्रद्धेय होती है। माता-जैसा कोमल, दयालु हृदय किसीका भी लोकमें दृष्टिगोचर नहीं होता। संतान कैसी भी दुष्ट-से-दुष्ट, स्वेच्छाचारी, मातृसेवासे विमुख क्यों न हो, फिर भी माँ अपनी ऐसी संतानकी भी सदैव हितैषिणी ही रहती है और स्वयं सन्तानकी सेवा करके प्रसन्न होती है। अपनी सन्तानका वह कभी त्याग नहीं करती। एक भक्तने कहा है—

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत्प्रकुरुषे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥
(श्रीशङ्कराचार्यस्य देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रात्)

'माँ' शब्दमें कितना प्रेमामृत भरा हुआ है, इसका वर्णन

नहीं किया जा सकता। पुत्र जब अपनी माँको 'माँ' 'माँ' कहकर पुकारता है तब माताका हृदय प्रेमसे भर आता है। ऐसे ही भक्तजन जब 'माँ' 'माँ' कहकर अपने उपास्य देवको पुकारते हैं तब उनके हृदयमें एक दिव्य आनन्दकी धारा बहने लगती है। इसको सभी प्रत्यक्ष उपलब्ध कर सकते हैं। एक भक्तने कहा है 'माता! मैं तुझे माँ-माँ कहकर इतना पुकारता हूँ, परन्तु तू अभीतक सामने नहीं आती। इसका क्या कारण है? 'माँ' शब्द मेरे हृदयको बहुत प्रिय है और मेरी माताको भी अत्यधिक प्रिय था। जब मैं 'माँ' कहकर उसे पुकारता था तो वह गद्गद हो जाती थी। माता! तुझको भी मालूम होता है 'माँ' शब्द अत्यन्त प्रिय है, इससे तू यह सोचती होगी कि इस बच्चेके पास यदि मैं प्रकट हो जाऊँगी तो शायद यह 'माँ' की आवाज लगाना बन्द कर देगा। शायद इसी भयसे और 'माँ' की आवाज सुननेके लोभसे ही तू नहीं आती।' यह सब माताके पुजारीके भाव हैं। परमहंस रामकृष्ण स्वामी जब 'माँ, माँ' कहकर पुकारते थे तो शरीरकी सुध भूल जाते थे और विह्वल हो जाते थे।

सृष्टिकी उत्पत्तिमें पुरुष और प्रकृति दोनों ही हेतु हैं। जैसे गीतामें कहा है—

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (१३।२६)

यावन्मात्र—जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है

उसको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान। अर्थात् प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक संयोगसे ही सम्पूर्ण जगत्की स्थिति है, वास्तवमें सम्पूर्ण जगत् नाशवान् और क्षणभङ्गुर होनेसे अनित्य है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (१४।४)

नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

जैसे बालककी उत्पत्तिमें माता और पिता दोनों ही हेतु हैं, वैसे ही जगत्की उत्पत्तिमें पुरुष और प्रकृति दोनों ही हेतु हैं और ये दोनों अनादि हैं। अब यह उपासककी चाहपर निर्भर है कि वह माताको प्रधान रखकर उपासना करे अथवा पिताको। इसका निर्णय भक्तकी अन्तःप्रवृत्तिपर निर्भर है। फलमें कोई भेद नहीं होता। भाव यदि सर्वोच्च हो तो फल भी सर्वोच्च ही होगा। उस अनन्त चेतनको कोई पुरुष कहता है, कोई अनन्त चेतन-शक्ति भी कह सकता है। यह ध्यान रखनेकी बात है कि जो उपास्यशक्ति-देवी है उसको केवल जड प्रकृति या माया नहीं समझना चाहिये। उसे चेतनशक्तियुक्त प्रकृति अथवा केवल चेतनशक्ति ही समझ सकते हैं। यही अचिन्त्यशक्ति सर्वरूपसे सबमें सब काल व्याप्त है। जैसे श्रीमार्कण्डेयपुराण अध्याय ८२ में कहा है—

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता। (१२)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते। (१३)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता। (१४)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता। (१८)

कहीं—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥ (२४)

उसीको—

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्त्यै देव्यै नमो नमः॥ (३६)
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्। (३७)

—इत्यादि शब्दोंसे पता लगेगा कि एक ही यह शक्ति अनेक रूपसे संसारमें व्याप्त है। इसीको कोई देवी, कोई काली, कोई शक्ति, कोई ईश्वर, विष्णु, शिव इत्यादि अनेक नामोंसे वर्णन करते हैं। तत्त्वज्ञ ज्ञानीजन इस एक सत्ताके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं देखते। सर्वत्र, सबमें, सब कुछ उसी अपनी अधिष्ठात्री शक्तिको देखते हैं और जो कुछ भी है सब उसीकी विभूति है। जिस समय निशुम्भ दैत्यको देवीने मार डाला था

और उसके भाई शुम्भने देवीके बहुत-से रूप देखकर कहा था कि तुम्हारे साथ अनेक सहायक हैं इसीलिये तुम जीत रही हो, तब देवीने उत्तर दिया था कि—

> एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
> पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥ (मार्क० ८७।३)

अर्थात् 'इस जगत्में मैं ही अकेली हूँ और अद्वितीय हूँ, अन्य क्या है ? अर्थात् अन्य कुछ भी नहीं है। रे दुष्ट ! जो कुछ तुझे अन्य भासता है सो सब मेरी विभूतियाँ हैं, यह देख सब मुझमें विलीन होती हैं।' इत्यादि वचनोंसे सिद्ध है कि एक चेतन शक्ति ही है और उसके सिवा कुछ नहीं है और वह पूर्ण है। कल्याणकामी भक्तजन इसी भावसे उसे उपासते हैं। उस शक्तिके इस भावको हृदयङ्गम करना ही सच्ची शक्ति-उपासना है।
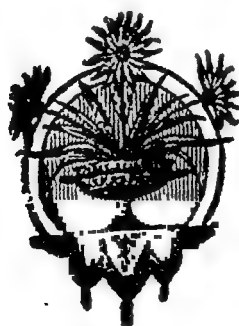
योगतत्त्व

'योग' शब्दका अनेक प्रकारके उद्देश्यों और भावोंमें प्रयोग किया जाता है। इस शब्दके आदिमें यदि कोई विशेषण आ जाय तो उस विशेषणके अनुसार इसका अर्थ होता है, जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें 'योग' शब्दसे कई प्रकारके विषयोंका वर्णन किया गया है। यथा—सांख्ययोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, ऐश्वरयोग आदि। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिको भी योग कहा है।

(क) *सांख्ययोग*—अहंता-ममताका नाश करके सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना।

(ख) *कर्मयोग*—फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वर-अर्थ या कर्तव्यबुद्धिसे, समत्व भाव रखते हुए विहित कर्मोंको करना अर्थात् निष्काम कर्म।

(ग) *भक्तियोग*—साकार भगवान्को स्वामी समझकर अनन्य श्रद्धासे युक्त होकर चित्तको तन्मय करना।

(घ) *ध्यानयोग*—एकाग्र चित्तद्वारा शुद्ध, पवित्र और एकान्त स्थानमें योग्य आसनपर बैठकर संसारके चिन्तनका सर्वथा अभाव करके एक ईश्वरका ही चिन्तन करना।

(ङ) *अष्टांगयोग*—गीता अ० ८, श्लोक १२ अर्थात्

इन्द्रियोंको रोककर मनको हृदयमें स्थिर करके, प्राणोंको मस्तकमें स्थापन करके योगधारणामें स्थित होना इत्यादि तथा अध्याय ४, श्लोक २९ में 'अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं तथा अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य योगीजन प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाममें परायण होते हैं' इत्यादि वचनोंसे अष्टाङ्गयोगका वर्णन आया है।

(च) *ऐश्वरयोग*—गीता अ० ९ श्लो० ५ में दिखलाया है—'पश्य मे योगमैश्वरम्' तथा अ० १० श्लो० ७ में—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

(छ) *आत्यन्तिक दुःखोंकी निवृत्तिरूप योग*—गीता अ० ६ श्लोक २३—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

अर्थात् दुःखके संयोगसे जो रहित है उसकी योगसंज्ञा है, उसको जानना चाहिये।

योगके कई ग्रन्थोंमें *'योग'* शब्दसे मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, लययोगका भी वर्णन है।

मन्त्रयोग—'मन्त्रजपान्मनोलयो मन्त्रयोगः'—मन्त्रजापसे जो मनका लय करना है उसको मन्त्रयोग कहते हैं।

हठयोग—'ह' से सूर्य, 'ठ' से चन्द्र अर्थात् इडा, पिङ्गला नाडी। इनके संयोगसे सुषुम्नाके उत्थानका साधन, तथा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा आदि षट्चक्र भेद करनेको हठयोग कहते हैं।

राजयोग—किसी स्थिर आसनसे और शाम्भवी आदि किसी मुद्राद्वारा चित्त एकाग्र हो जानेपर सुखपूर्वक आत्मसत्ताका अभाव होकर एक परमात्मभावके रह जाने तथा इसी अभ्याससे अर्थात् मनोनिरोधसे प्राणोंके निरोध होनेको राजयोग कहते हैं।

लययोग—यह अनेक प्रकारका है। स्थिर आसनसे बैठकर मनको अनहद शब्द, दिव्य प्रकाश या मूर्तिविशेषमें लय करनेका नाम लययोग है।

और भी अनेक प्रकारके योग तन्त्रशास्त्र और योगग्रन्थोंमें मिलते हैं। पातञ्जलयोगदर्शन, जो योगशास्त्रोंमें प्रधान मान्य ग्रन्थ है, उसके मतानुसार योगशब्दकी परिभाषा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र १।२)। अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोधका नाम योग है। यहाँ 'निरोध' शब्दको समझनेके लिये चित्तकी पाँच अवस्थाओंका जानना आवश्यक है, क्योंकि योगशास्त्रकार चित्तकी निरुद्धावस्थाको ही योग मानते हैं। अन्य अवस्थाओंको योगभूमिमें नहीं अङ्गीकार करते, पर योगके साधनयोग्य जो चतुर्थावस्था अर्थात् एकाग्र अवस्था है उसको लिया है। शेष तीनों अवस्थाएँ साधनके योग्य भी नहीं हैं।

चित्तवृत्तिकी पाँच अवस्थाओंके नाम—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

मूढ़ *अवस्थाका स्वरूप*—तमोगुणप्रधान, पूर्वापर तथा हानि-लाभके विचारसे रहित, अपने तुच्छ भोगके लिये परपीड़न और हिंसापरायण काम, क्रोध आदि दुराचारसे पूर्ण वृत्ति। यह स्वरूप नीच पापी पुरुषोंका होता है।

क्षिप्त अवस्था—रज और तमप्रधान केवल स्वार्थ-भोगकी वृत्ति, जैसे साधारण भोगी संसारी पुरुषोंकी होती है।

विक्षिप्त अवस्था—रजोगुणप्रधान संसारी पुरुषोंका चित्त कभी विषयोंकी तरफ दौड़ता है तो कभी परमार्थकी तरफ, तथा अव्यवस्थित और चञ्चल रहता है। यह अवस्था जिज्ञासुओंकी होती है।

एकाग्र अवस्था—सत्त्वगुणप्रधान साधक पुरुषोंकी होती है, जिनकी चञ्चलता नष्ट हो गयी है, साध्यविषयमें चित्त लगा हुआ है।

निरुद्धावस्था—सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका पूर्णतया शान्त हो जाना, इस प्रकारकी निरुद्धावस्थाको योग कहते हैं।

'योग' शब्दसे लोग मेल या सम्मिश्रण अर्थात् दो या अधिक पदार्थों या जीवोंका मिलनरूप अर्थ ही ग्रहण करते हैं। पर योगदर्शनमें चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है और श्रीमद्भगवद्गीता-में 'दुःखोंके संयोगके वियोग' का नाम 'योग' है। इस प्रकार साधारण प्रचलित अर्थमें और गीता तथा योगदर्शनके पारिभाषिक अर्थमें विपरीतता प्रतीत होती है, परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो वास्तवमें ऐसा नहीं है। शब्दोंका प्रयोग कहीं वाच्यार्थमें और कहीं लक्ष्यार्थमें होता है, सभी स्थलोंमें वाच्यार्थ नहीं लिया जाता। जैसे कोई दुःखसे पुकारता है कि 'मैं मारा गया', तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह सचमुच मर गया, बल्कि इतना ही अभिप्राय होता है कि उस पुरुषको अर्थ, पुत्र या अन्य किसी प्रकारकी ऐसी हानि हुई है जिसे वह मृत्युतुल्य मानता है।

गीता अ० ५, श्लोक १८ में लिखा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

'ज्ञानीजन विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शी होते हैं।' यदि कोई इस श्लोकके अनुसार दूधके लिये गौ न लाकर कुतिया लाता है और सवारीके लिये हाथीके बदले विद्वान् ब्राह्मणको जोतता है तो वह ज्ञानी नहीं, उन्मादी है। तात्पर्य, लक्ष्यार्थ ही मुख्यतः देखना होता है। योग-शब्दकी परिभाषा गीता और योगदर्शनके मतसे उसी प्रकार लक्ष्य-से सम्बन्ध रखनेवाली है। योग-शब्दके सरलार्थके अनुसार देखें तो यही अर्थ निकलता है कि जीव और ईश्वरका संयोग वा मिलन ही योग है। परन्तु ईश्वरके संयोगके अनेक प्रकार हैं। जैसे कहीं तो एकीभावसे सम्मेलन है, अर्थात् आत्मसत्ता परमात्मामें लय होकर केवल परमात्मा ही अवशेष रह जाता है। जैसे गीता अ० ६, श्लोक ३१—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूप-से स्थित मुझ (परमात्मा) को भजता है वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी मेरेमें ही वर्तता है।' यही संयोग कहीं स्वामी-सेवकभावका, कहीं सखाभावका, कहीं पुत्रभावका योग है। कहीं सर्वत्र आत्मभावसे परमात्मप्राप्तिरूप संयोग भी योग है। जैसे—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (गीता ६।२९)

'योगसे युक्त, सर्वत्र समदर्शी पुरुष आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें अनन्यरूपसे स्थित देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।' कहीं अत्यन्त सुखकी प्राप्ति अर्थात् नित्य शाश्वत, अखण्ड सुखका संयोग भी योग है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (गीता ६। २७-२८)

'जिसका मन अच्छी तरह शान्त है और जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ऐसे इस सच्चिदानन्द-घन ब्रह्ममें एकीभूत हुए योगीको अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। और वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्मप्राप्तिरूप अनन्त आनन्द-को अनुभव करता है।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे 'योग' शब्दसे ईश्वरप्राप्ति या मिलन किसी भी रूपमें समझ लें तो 'योग' शब्दकी परिभाषा ठीक समझमें आ जाती है।

योगदर्शनके अनुसार भी 'योग' शब्दका लक्ष्यार्थ देखिये—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—तब द्रष्टाकी स्वरूपस्थिति भी होती है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योग० १।२९)

उससे स्वरूपज्ञान और विघ्नोंका नाश होता है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः।(२।२८)

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिका क्षय होनेपर आत्मज्ञानतक ज्ञानकी दीप्ति होती है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (३।५५)

बुद्धि और पुरुषकी शुद्धिकी समता होनेपर अर्थात् स्वच्छता होनेपर कैवल्यावस्था होती है।

अतएव 'योग' शब्दके सरलार्थ और लक्ष्यार्थमें भेद नहीं रहता। इस दृष्टिको सामने रखकर जब हम पूर्वोक्त परिभाषाका विचार करेंगे तो पता लगेगा कि योग अर्थात् परमात्माका संयोग ही सब दुःखोंके संयोगका अभाव करनेवाला है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमात्माकी प्राप्ति दोनों ही अन्योन्य सम्बन्ध रखनेवाली हैं। इसलिये इसको योग कहा है। चित्तवृत्तिनिरोध अर्थात् चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध होनेसे शान्तरूप, आनन्दरूप, ज्ञानरूप परमात्माका संयोग होता है; चित्तमें जबतक विजातीय वृत्तिका प्रवाह होता है और जबतक किसी भी प्रकारकी वृत्ति रहती है तबतक स्वरूपमें स्थिति नहीं होती। यहाँतक कहा है कि—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। (१।५१)

उस साधनवृत्तिका भी निरोध होनेपर अर्थात् सब वृत्तियोंका निरोध होनेपर निर्बीज समाधि अर्थात् कैवल्यस्थिति होती है।

गीतामें दिखलाया है—

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥(६।२४-२५)

'सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्णतासे त्यागकर मनके द्वारा सब इन्द्रियोंको सब ओरसे अच्छी प्रकार वशमें करके शनैः-शनैः (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त हो और धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थिर करके कुछ भी चिन्तन न करे।'

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ (६ । २)

'सङ्कल्पोंको न त्यागनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।' 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'—उस योगमें आरूढ हुए पुरुषके लिये सर्व सङ्कल्पोंका अभाव ही कल्याणमें हेतु है।

सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (६ । ४)

'सर्व सङ्कल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहलाता है।' और भगवान् श्रीकृष्णने यह भी कहा है कि चित्तवृत्तिके निरोधके बिना योगकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ (६ । ३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।' इन्हीं सब हेतुओंको लेकर योगका लक्षण चित्तवृत्तियोंका निरोध कहा है।

योगशास्त्रमें वृत्तिके पाँच भेद कहे हैं—

'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः'। (योग० १।५) क्लिष्ट-अक्लिष्ट भेदवाली पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पाँचों वृत्तियाँ क्लिष्ट भी होती हैं और अक्लिष्ट भी।

प्रमाण—योगशास्त्रमें तीन प्रकारके माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (शास्त्र)। जब चित्तवृत्ति सांसारिक विषयोंको प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शास्त्रजन्य प्रमाणोंद्वारा अपना विषय करती है तब इस चित्तवृत्तिको क्लिष्टप्रमाणवृत्ति कहा है और जब चित्तवृत्ति पारमार्थिक—कल्याणसम्बन्धी विषयोंका प्रत्यक्ष, अनुमान या शास्त्रजन्य प्रमाणोंद्वारा चिन्तन करती है तब उस वृत्तिको अक्लिष्टप्रमाणवृत्ति कहा है; क्योंकि यह कल्याणमें सहायक है।

विपर्यय—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। (योगदर्शन १।८)

विपर्यय मिथ्याज्ञानको कहते हैं, जो उसके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है—जैसे रज्जुमें सर्प, सीपमें रजत और स्थाणुमें मनुष्यका ज्ञान विपर्ययज्ञान है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३।१४।१)

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति' (गीता ७।७)

—इत्यादि श्रुति-स्मृति-वचनोंसे जब एक ईश्वरके सिवा कुछ भी नहीं है, जो कुछ भासता है और जिसको भासता है वह सब कुछ ईश्वर ही है, तब ऐसी अवस्थामें ईश्वरमय चराचरके स्थानमें अन्य मायिक पदार्थोंकी सत्य भावनाकी जो वृत्ति है वह क्लिष्ट-विपर्ययवृत्ति है। और जब किसी एक स्थानमें, एक देशमात्रमें

ईश्वरभावनासे जो उपासना है और अन्यत्र ईश्वरबुद्धि नहीं है, यह यद्यपि विपर्ययवृत्ति है तथापि अक्लिष्टविपर्यय है। कालान्तरमें एकदेशीय ईश्वरभावना सर्वदेशीय ईश्वरभावमें परिणत हो जायगी। इसलिये यह अक्लिष्टविपर्यय है।

विकल्प—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (योग० १। ९)—शब्दज्ञानके अनुसार होनेवाली वृत्ति जिसमें वस्तु कोई नहीं है, उसका नाम विकल्प है। समीपमें प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है, पर शब्दोंको सुनकर उससे मनःकल्पित वस्तुका ज्ञान जिस वृत्तिसे होता है उसको विकल्पवृत्ति कहते हैं—जैसे मनोराज्य। यह वृत्ति जब सांसारिक स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंको विषय करती है तब क्लिष्टविकल्पवृत्ति कहलाती है। और जब ईश्वरके स्वरूपको, चाहे वह साकार हो या निराकार, वेद या शास्त्रोंके शब्दोंके आधारसे मनमें भावनाद्वारा अनुभव किया जाता है तब उस वृत्तिको अक्लिष्टविकल्पवृत्ति कहते हैं।

निद्रा—सांसारिक विषयोंका चिन्तन करते-करते जब निद्रा आ जाती है तब उसको क्लिष्टनिद्रावृत्ति कहते हैं और जब ईश्वरका ध्यान करते-करते अथवा योगाभ्यासमें निद्रा आ जाती है तब वह अक्लिष्टनिद्रावृत्ति है।

स्मृति—जब चित्तवृत्ति सांसारिक अतीत विषयोंका चिन्तन करती है तब वह क्लिष्टस्मृतिवृत्ति है और जब भगवद्विषयको स्मरण करती है तब वही वृत्ति अक्लिष्टस्मृतिवृत्ति है। इस प्रकार चित्तवृत्ति क्लिष्ट-अक्लिष्टके भेदसे पाँच प्रकारकी वर्णित हुई।

योगकी प्राप्तिमें योगशास्त्रानुसार आठ सोपान वर्णन किये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

योग वास्तवमें निर्बीज समाधिको ही कहते हैं, और सब अङ्ग उस चरम पदको प्राप्त करनेके साधन हैं।

यम-नियमके, योगी याज्ञवल्क्यके मतानुसार, दस-दस भेद किये गये हैं। पर पतञ्जलि ऋषिके अनुसार पाँच-पाँच भेद हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान नियम हैं।

आसन—सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि भेदसे चौरासी आसन कहे गये हैं। जिसको जो आसन अनुकूल हो उसी आसनसे वह अभ्यास करे।

प्राणायाम—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। (योगदर्शन २।५०)

यहींसे खास योगसाधनका कार्य आरम्भ होता है—इस विषयको लेखके द्वारा पूरा समझाना कठिन है। पर संक्षेपमें कुछ समझानेकी कोशिश की जाती है। जो सज्जन इस विषयको अभिज्ञ योगीद्वारा समझकर प्राणायामका अभ्यास करते हों वे सुगमतासे समझ सकेंगे। 'प्राणायाम' शब्दका अर्थ है—'प्राणस्य आयामो गतिरोधः' इति'। प्राण प्राणवायु या श्वास-प्रश्वासको कहते हैं; उसकी गतिको रोकना, उसका नियमन करना प्राणायाम है। कहा है—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।(२।४९)

'आसन सिद्ध होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम प्राणायाम है।' गतिको रोकनेका विधान साधनपादके पचासवें सूत्रमें कहा है।

प्राणायामके चार अङ्ग हैं—पूरक, रेचक, आन्तर कुम्भक और बाह्य कुम्भक। वायु बाहरसे खींचने अर्थात् श्वास लेनेका नाम पूरक है। वायु त्यागना अर्थात् प्रश्वासका नाम रेचक है। वायुको भीतर खींचकर रोकनेका नाम आन्तर कुम्भक है। वायुको बाहर त्यागकर श्वास न लेने अर्थात् ठहरनेको बाह्य कुम्भक कहा जाता है। मूल सूत्रमें 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति' वाला प्राणायाम कहा है। यहाँपर 'बाह्य' शब्दसे रेचक, 'आभ्यन्तर' शब्दसे पूरक और 'स्तम्भ' शब्दसे कुम्भकका अभिप्राय है। इस प्रकारका प्राणायाम देश, काल, संख्याके अनुसार दीर्घ और सूक्ष्म होता है। यहाँ देशसे अभिप्राय यह है कि श्वासके लेने और त्यागनेमें श्वास जितना लंबा भीतर जाय उतना ही लंबा बाहर जाय। इस दीर्घताको देश कहते हैं। अभ्याससे श्वासकी दीर्घता क्रमसे बढ़ती है। कालसे यहाँ यह उद्देश्य है कि पूरकमें जितना समय लगे उससे चतुर्गुण समयतक कुम्भक करना चाहिये। फिर रेचकके लिये पूरकसे द्विगुण समय लगाना चाहिये, अर्थात् यदि १५ सेकंड पूरकमें लगें तो ६० सेकंड कुम्भक और ३० सेकंड रेचकमें लगाना चाहिये। इस प्रकारसे १०५ सेकंडमें एक प्राणायाम हुआ। यह १०५ सेकंड प्राणायामके लिये कोई निर्दिष्ट काल नहीं है। नियमको समझानेके लिये उदाहरणसे समयका विभाग दिखाया गया है। प्रारम्भिक अभ्यासमें १५ सेकंडसे कममें

भी पूरकका अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है और अभ्यासके बाद १५ सेकंडसे अधिक समय पूरकमें लग जाता है। पर विधि यह है कि पूरकसे चौगुना कुम्भकका और दुगुना रेचकका काल होना चाहिये। 'संख्या' शब्दसे यहाँ यह अभिप्राय है कि पूरकमें जितनी संख्या नामजपकी हो उससे चतुर्गुण संख्या नामजपकी कुम्भकमें होनी चाहिये और द्विगुण संख्या रेचकमें। उदाहरणतः यदि सोलह प्रणवमन्त्रसे पूरक हो तो चौंसठ प्रणवमन्त्रसे कुम्भक और बत्तीस प्रणवमन्त्रसे रेचक होना चाहिये। प्राणायामके अभ्यासीको यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि देश-काल-संख्याका उपर्युक्त नियम ठीक रखते हुए प्राणायामका अभ्यास करे। सब प्राणायाम एक समान होने चाहिये, अर्थात् यदि प्रतिदिन पचास प्राणायामका अभ्यास कोई करता हो तो सभी प्राणायाम समान होने चाहिये। कोई भी प्राणायाम छोटे-बड़े, अल्प-अधिक काल या संख्याके न हों। प्राणायाम प्रारम्भमें सूक्ष्म होते हैं, आगे चलकर दीर्घ हो जाते हैं। नियमानुसार प्राणायाम करनेसे क्रमशः श्वास-प्रश्वासके रोकनेकी शक्ति बढ़ती है। पारमार्थिक लाभके अतिरिक्त स्वास्थ्यसम्बन्धी लाभ भी अनेक प्रकारका इससे होता है।

योगाभ्यासी जन कुम्भकके दो भेद मानते हैं और दोनों ही करनेयोग्य हैं। एक बाह्य कुम्भक, दूसरा आभ्यन्तर कुम्भक। जिस प्रकार आन्तर कुम्भककी विधि ऊपर वर्णन की गयी है उसी प्रकार और उन्हीं नियमोंके अनुसार काल और संख्याका ध्यान रखते हुए बाह्य कुम्भक भी किया जा सकता है। अवश्य प्रारम्भमें

इसके अभ्यासमें कुछ कठिनता मालूम होती है, पर प्राणायामका कुछ अभ्यास हो जानेके बाद बाह्य कुम्भकको भी साथमें जोड़ सकते हैं। यह बाह्य कुम्भक रेचकके बाद किया जाता है और इसके बाद फिर पूरक आरम्भ हो जाता है अर्थात् प्राणायामका इस प्रकार एक चक्र बन जाता है। पूरक, फिर आन्तर कुम्भक, फिर रेचक, फिर बाह्य कुम्भक, फिर पूरक, क्रमशः इसी प्रकार चक्रवत् चलता रहता है। अनियमित प्राणायामके अभ्याससे लाभ नहीं होता और हानिकी भी सम्भावना है। पातञ्जल योगदर्शनमें चतुर्थ प्राणायामके नामसे एक और प्राणायामका वर्णन किया गया है।

'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' (योग० २।५१)—अर्थात् बाह्य, आभ्यन्तर आदि विषयोंके नियमका उल्लंघन करके एक चौथा प्राणायाम होता है। यहाँ मनके निरोधसे प्राणोंका निरोध है। प्राणायाम-के और भी अनेक प्रकार हैं, जिनका वर्णन विस्तारभयसे नहीं किया जाता। प्राणायाममें वायु खींचनेकी और त्यागनेकी विधि साधारण श्वास-प्रश्वासकी विधिसे कुछ भिन्न है और नाक दबाकर रोकना भी युक्त विधि नहीं है। बन्धद्वारा वायुको रोकना चाहिये। यह सब क्रिया समझनेकी है, लिखकर प्रकट करना कठिन है।

बहुत-से सज्जन योगकी महिमाको देखकर योगाभ्यासी बनना चाहते हैं और योगसाधनके प्रथम सोपान प्राणायामसे आरम्भ करते हैं। उसका परिणाम, मेरा जहाँतक अनुभव है, यही होता है कि थोड़े काल बाद वे लोग अभ्यास छोड़ देते हैं और साधनसे उनकी रुचि हट जाती है। इसका कारण मेरी समझसे यही है

कि जो लोग यम, नियम और आसनके अभ्यासको अच्छी प्रकार किये बिना ही प्राणायामकी तरफ दौड़ते हैं उन्हें प्राणायाममें सफलता मिलनी कठिन है। क्योंकि जिसका आसन सिद्ध नहीं हुआ वह प्राणायामके लिये बैठनेपर चञ्चल ही रहेगा, स्थिर होकर सुख-शान्तिसे अभ्यास नहीं कर सकेगा। और जिन्होंने यम-नियमका साधन नहीं किया उनका चित्त सांसारिक विषयोंमें विक्षिप्त रहेगा। सांसारिक चिन्तन और काम, क्रोध, लोभादिसे जो विक्षिप्तचित्त है वह प्राणायामकालमें देश, काल, संख्याके नियमोंको ठीक लक्ष्यमें रखकर तन्मय होकर अभ्यास नहीं कर सकता, यह स्पष्ट है। अभ्यासकालमें विजातीय किसी प्रकारका चिन्तन आनेके साथ ही देश, काल, संख्याका नियम गड़बड़ हो जाता है। और भी कारण हैं, ऊपर कुछ एकका दिग्दर्शन करा दिया गया है। आहार, विहार, शयन आदिके नियमनकी भी आवश्यकता रहती है। प्राणायामके बाद प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका विषय आता है। ये सब विषय गहन हैं, लिखनेसे विस्तार अधिक हो जाता है। इसलिये लेख यहीं समाप्त किया जाता है। जो कुछ लेखमें त्रुटि हो उसे पाठकगण क्षमा करें।

नाममहिमातत्त्व

मरुभूमिसदृश शुष्क हृदयमें आनन्दरसकी लहरें उत्पन्न करनेके लिये, घोर अन्धकाराच्छन्न हृदयाकाशमें प्रकाशका प्रादुर्भाव करनेके लिये, पापपङ्कमें पड़े हुए जीवोंको उससे बाहर निकालनेके लिये, विषयभोगोंमें आसक्त चञ्चल चित्तमें-अटल शान्ति स्थापन करनेके लिये, घोर नरकोंमें प्रबल वेगसे जाते हुए जीवकी गतिको रोककर उसे कल्याणके पावन पथपर चलानेके लिये और त्रिविध तापोंसे संतप्त प्राणियोंको सुखमय शीतलताके स्थानतक पहुँचानेके लिये यदि कोई परम साधन है तो वह एक श्रीभगवन्नाम ही है। शास्त्रोंसे, साधु महात्माओंके वचनोंसे, युक्तियोंसे और व्यावहारिक दृष्टिसे भी नाममहिमा प्रसिद्ध है। संसारकी सभी जातियोंमें किसी-न-किसी रूपमें नामका आदर पाया जाता है। शब्दोंकी भिन्नता है, भाव एक ही है। यद्यपि संसारमें कुछ ऐसे मनुष्य भी हैं जो नाममहिमा स्वीकार नहीं करते, परन्तु इससे नाममहिमामें कुछ भी कमी नहीं होती। हीरा आदि रत्नोंकी पहचान और उनकी कीमत बहुत-से लोगोंको नहीं होती, इससे उनकी कीमत कहीं चली नहीं जाती। इसी प्रकार नामकी शक्ति अनादि कालसे अप्रतिहत है, स्वप्रकाश है और यह सर्वदा ऐसी ही बनी रहेगी।

स्मृतिशास्त्रोंमें कहा है—

नाम्नो हि यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः॥

'भगवान्‌के नाममें जितने पापोंके नाश करनेकी शक्ति है उतने पाप अति पापी मनुष्य भी करनेमें समर्थ नहीं है।'

जब भगवत्कृपासे नामजपका भलीभाँति साधन होता है तब अनायास ही अन्तःस्थित ब्रह्म प्रकट होकर जापकको अपने अनुभवसे कृतकृत्य कर देता है।

इससे यह सिद्ध हो गया कि नामजपसे ही ब्रह्म प्रकट होता है! अतएव एक तो भगवन्नाम इसलिये लेना चाहिये कि इससे परमानन्दस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। दूसरे—

एक दारुगत देखिय एकू। पावक जुग सम ब्रह्म बिबेकू॥

(रामा० बाल०)

ब्रह्मका विचार दो तरहका है। एक तो अग्नि लकड़ीमें व्यापक रहती है और एक प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। जिस काष्ठमें अग्नि तिरोहितरूपसे व्याप्त है उसमें दाहकादि गुणोंका आविर्भाव न होनेसे उससे दहनकार्य नहीं हो सकता; परन्तु जिसमें वह प्रकट है, उससे होता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु अव्यक्त होनेसे उसके स्पर्शजन्य सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु वही ब्रह्म शब्दरूपसे प्रत्यक्ष अग्निकी तरह संसारमें व्यक्त हो रहा है। कोई भी सौभाग्यवान् पुरुष उसे भलीभाँति स्पर्श करके अपने अपार पापोंको क्षणभरमें भस्म कर सकता है!

भगवन्नाम ही वह 'शब्दब्रह्म' है, उसके जीभपर आते ही मानो जिह्वाद्वारा साक्षात् ब्रह्मका स्पर्श होता है और उससे

पापोंका नाश होकर मुमुक्षुको शीघ्र ही परमपदकी प्राप्तिका सौभाग्य मिल जाता है।

बिजली सब जगह है, परन्तु जिस एक स्थानविशेषमें उसकी शक्तिका संग्रह किया गया है वहींसे टेलीग्राम, टेलीफोनके तारोंका व्यवहार बन सकता है। इसी तरह नामजप ब्रह्मके साथ ब्रह्मकी शक्तिरूपा विद्युत्के द्वारा तारका जोड़ना है।

एक सुन्दर तालाबमें निर्मल जल भरा हुआ है, परन्तु उसके घाट नहीं है तो सबके लिये उसमें स्नान करना या उसका जल-पान करना बड़ा कठिन है। यदि घाट बँधवा दिया जाय तो उससे छोटे-बड़े, बालक, स्त्री सभी स्नान-पानादिका लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार आनन्दरूप निर्मल ब्रह्मसरोवरका घाट है 'भगवन्नाम'। बड़ा सुलभ, सुहावना और पक्का है। सभी कोई इस घाटके द्वारा ब्रह्मसरोवरमें प्रवेश कर सकते हैं!

नाम एक ऐसा मजबूत जहाज है जिसपर चढ़कर जीव अनायास ही भवसमुद्रके उस पार पहुँच सकता है। नाम इसी-लिये लेना चाहिये और यही नामसे होनेवाला लाभ है।

ब्रह्मके अनन्त नाम हैं, परन्तु—

—राम सकल नामनतें अधिका।

श्रीराम-नाम सबसे उत्कृष्ट है, क्योंकि वेदमूल प्रणवका भी यह कारण है—'कारणं प्रणवस्य च।' दूसरे इस श्रीरामनाममें 'र', 'अ' 'म' ये तीन अक्षर हैं। 'र' कार अग्निस्वरूप, 'अ' कार सूर्यस्वरूप और 'म' कार चन्द्रस्वरूप है। अग्निस्वरूप 'र' कार

पापोंको भस्म कर देता है और उससे वेदोक्त कर्मयोग सिद्ध होता है। सूर्यरूप 'अ' कारसे हृदयमें आप ही आप प्रकाश होता है और उससे ज्ञानयोग सिद्ध होता है। तथा चन्द्ररूप 'म' कारसे हृदयमें चन्द्रतुल्य शीतल अग्निका उदय होता है और उससे भक्तियोग सिद्ध होता है*। इस प्रकार एक रामनामसे ही तीनों योगोंकी एक साथ सिद्धि होती है और बिना किसी अन्य साधनके केवल इसीसे ही साधकको दुर्लभ परमपदकी प्राप्ति भी अत्यन्त सुलभतासे हो जाती है। श्रीगोस्वामीजीके वचन हैं—

बंदउँ रामनाम रघुबरको। हेतु कृसानु भानु हिमकरको॥

(रामा० बाल०)

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

(विष्णु० ६। ८। १९)

'जैसे सिंहके भयसे व्याकुल होकर मृग तत्काल भाग जाते हैं, इसी प्रकार पापी पुरुष यदि अवश होकर भी नामकीर्तन करता है तो उससे वह तत्काल पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

यदि कोई श्रद्धालु आस्तिक पुरुष प्रेमसे नामका अभ्यास करता हुआ उसकी महिमापर विचार करे तो उसके हृदयमें यह बात निःसंशय सिद्ध हो जाती है कि नाममहिमाका जितना शास्त्रोंमें वर्णन है और जितना श्रेष्ठ पुरुषोंका कथन है वह सब

* अग्नि 'र' से पापरूपी प्रतिबन्धकोंका जलना, सूर्यरूप 'अ' से मोहरूप तमका नाश होकर ज्ञानका उदय होना तथा चन्द्ररूप 'म' से त्रितापका नाश होकर शीतल अमृतत्व—मोक्षकी प्राप्ति होना भी समझा जा सकता है। अर्थात् रामनामसे पापनाश, ज्ञानोदय और मुक्ति तीनों काम हो सकते हैं—सम्पादक

बहुत ही थोड़ा है। अपार, असीम नाममहिमार्णवकी सीमा बतलाने-में न तो लेखनी समर्थ है और न वाणी ही! ग्रन्थोंका वर्णन और श्रेष्ठ पुरुषोंका कथन तो केवल नामप्रेमियोंके कृतज्ञताभिभूत हृदयों-का उच्छ्वासमात्र है। समुद्रमेंसे उतना ही जल लिया जा सकता है जितना बड़ा अपने पास बर्तन होता है। सारे समुद्रजलका ग्रहण असम्भव है। इसी प्रकार नाममाहात्म्यका भी विशेष उल्लेख या वर्णन सर्वथा असम्भव है। कोई यदि नाममाहात्म्य वर्णन करने-का अभिमान करता है तो वह उसके लिये केवल उपहासका विषय ही होता है। एक भक्तने कहा है—

> तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणुः
> शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यैः।
> कर्तुं तदीयमहिमस्तुतिमुद्यताय
> मह्यं नमोऽस्तु कवये निरपत्रपाय॥
>
> (श्रीयामुनमुनेरालवन्दारस्तोत्रात्)

'जिस नाममहिमारूप समुद्रके अति सूक्ष्म जलकणका यथार्थ परिमाण शिव, ब्रह्मादि नहीं बतला सकते, उसे बतानेके लिये यदि मुझ-जैसा कोई साहस करे तो ऐसे निर्लज्ज कविको नमस्कार है!' मतलब यह कि रुद्रादि देव भी जिसके वर्णनमें असमर्थ हैं उसका वर्णन हम कैसे कर सकते हैं?

जब भगवद्भक्तोंकी यह दशा है तब मुझ-जैसे अल्पज्ञका तो इस विषयमें कुछ कहना ही कैसे बन सकता है? परन्तु कहने और सुननेवाले जो कुछ कहते या सुनते हैं सो सब उस नामकी कृपासे ही होता है, ऐसा समझना चाहिये। नामकी असीम सामर्थ्य है। नाम छोटा हो या बड़ा, वह नामीको आकर्षण करता ही है—

मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्ब॥

नामके बलसे नामीकी प्राप्ति बलात्कारसे हो जाती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

देखिअ रूप नाम आधीना। रूपग्यान नहिं नामविहीना॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदयँ सनेह बिसेषे॥

(रामा० बाल०)

इधर जैसे नाम नामीका आकर्षण करता है उधर वैसे ही वह नामाश्रयीको भी नामीके चरणोंमें ले जाता है। 'नाम' शब्दके अर्थसे भी यही बात स्पष्ट होती है—'बलान्नमयतीति नाम' अर्थात् जो बलपूर्वक नामाश्रयीके चित्तको नामीके चरणोंमें नमन कराता है वह 'नाम' है। अतएव नामी और नामाश्रयीके बीचमें 'नाम' चतुर मध्यस्थका काम करता है। गोस्वामीजीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है—

उभयप्रबोधक चतुर दुभाषी॥ (रामा० बाल०)

नामाश्रयीकी कभी दुर्गति नहीं होती। नामाश्रयी नाममहिमाको यथार्थ जानकर नामीकी खुशामद भी नहीं करता। गोसाईंजीकी भाँति वह दृढ़तासे कह सकता है—

नाहिन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु, नामहुँ पाप न जारो॥

(विनयपत्रिका)

नामके सम्बन्धमें यह अक्षरशः सत्य उक्ति है—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।

विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥
(श्रीईश्वरपुरेः)

नामाश्रयी भक्तोंको सम्बोधनकर कवि आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि 'कल्याणका भण्डार, कलियुगके पापोंका नाशक, पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाला, कल्याणपथके पथिक मुमुक्षुओंका पाथेय, कवियोंकी वाणीका एकमात्र विश्रामस्थान (महिमाकी अनन्तताको देखकर जहाँ कवियोंकी वाणी रुक जाती है), सज्जनों-का जीवन और धर्मवृक्षका बीजरूप रामनाम आपलोगोंकी उन्नति करे।'

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि वास्तवमें नाम-महिमाकी अनुभूति अभ्याससे ही प्रत्यक्ष हो सकती है। जिनका शास्त्रोंमें विश्वास है उनके लिये वेदोंसे लेकर समस्त शास्त्रोंमें नाम-महिमा प्रसिद्ध है—

ओमित्येतद् ब्रह्म।

ॐ ही साक्षात् ब्रह्म है।

तस्य वाचकः प्रणवः। (योगदर्शन १।२७)

उस परमात्माका नाम प्रणव (ॐ) है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपा॰सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पद॰संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
(कठ० १।२।१५)

समस्त वेद जिस पदको प्राप्त करने योग्य बतलाते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिये ही तप किये जाते हैं, जिसके लिये गुरुगृह-

में रहकर इन्द्रियसंयमादिका आचरण किया जाता है, उसी पदको मैं तुमसे कहता हूँ, वह 'ॐ' ही है।

नन्दनन्दन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८।१३)

इन शास्त्रवचनोंके सिवा महात्मा पुरुषोंके वचनोंसे नाम-महिमा सिद्ध है। प्राचीन तथा आधुनिक कालमें जितने महात्मा हो गये हैं एवं वर्तमानमें भी जितने महात्मा हैं, उन सबने मुक्त-कण्ठ होकर एक स्वरसे नामसे लाभ होना स्वीकार किया है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

सुमिरु सनेहसों तू नाम रामरायको।
संबल निसंबलको, सखा असहायको॥
भाग है अभागेहूको, गुन गुनहीनको,
गाहक गरीबको, दयालु दानि दीनको।
कुल अकुलीनको सुन्यो है, वेद साखि है,
पाँगुरेको हाथ-पाय, आँधरेको आँखि है॥ १॥
माय-बाप भूखेको, अधार निराधारको,
सेतु भवसागरको, हेतु सुखसारको।
पतितपावन रामनाम सो न दूसरो,
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसो सो ऊसरो॥

(विनयपत्रिका)

परमहंस स्वामी रामकृष्णजीका कथन है कि 'नामका अवलम्बन करनेवाले पुरुष संसारमें बर्तते हुए भी कल्याणमार्गसे

नहीं गिरते। जैसे बालक किसी खूँटे या रस्सीको पकड़कर चारों ओर खूब चक्कर लगाते हैं; पर जबतक उसे पकड़े रहते हैं तबतक गिरते नहीं, छोड़ते ही गिर पड़ते हैं। इसी प्रकार नामको पकड़ रखनेवाला कभी नहीं गिरता!' वे कहते हैं–'नामजप ही त्यागी, अत्यागी सबके लिये एक सुगम उपाय है।' एक बार परमहंसजीने नामके सम्बन्धमें बड़े जोरकी बात कही थी, उसे हम ज्यों-की-त्यों बँगलामें लिखते हैं—

आमि 'दुर्गा' 'दुर्गा' बले मा यदि मरि।
आखेरे एदीने ना तारे केमने जाना जावेगो शंकरी॥

'यदि मैं तेरा नाम 'दुर्गा-दुर्गा' जपता हुआ मरूँ तो हे शङ्करी! अन्तमें तू मुझे कैसे नहीं तारती है सो जाना जायगा।' कितना दृढ़ विश्वास है!

नाममें सबका समान अधिकार है; स्त्री हो या पुरुप, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, ब्रह्मचारी हो या संन्यासी, योगी हो या भोगी और राजा हो या रंक, सभीके लिये सभी अवस्थाओंमें नाम-जैसा सहायक और कोई नहीं है! (देखो गीता अ० ९ श्लोक ३०–३२)

अतएव मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि भूलसे भी नामका त्याग न करे। भगवान् कहते हैं–'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥' इस सुखरहित क्षणभंगुर शरीरको पाकर तू निरन्तर मेरा ही भजन कर। अर्थात् मनुष्यशरीर बड़ा दुर्लभ है, परन्तु है नाशवान् और सुखरहित। इसलिये कालका भरोसा छोड़कर अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विपयभोगोंमें न फँसकर निरन्तर भगवान्का ही भजन करना चाहिये!

लिफाफेपर नाम करके उसे लेटरबक्समें डाल दिया जाता है; वह लिफाफा उस बक्सरूपी कारागारसे पोष्ट आफिसके कई कारागारोंमें थैलोंमें बंद हुआ, रेल, जहाज आदिकी यात्रा करता हुआ, अनेक दुःख तथा आघातोंको सहता हुआ, देश-देशान्तरोंमें घूम-फिरकर, अन्तमें अपने हृदयपर नाम धारण किये रहनेके कारण उस अपरिचित नामीके समीप पोष्टमैन (डाकिये) के द्वारा आपसे आप पहुँच जाता है। इसी प्रकार जो जीव अपने हृदयपर दृढ़ताके साथ प्रभुके नामको धारण करके उसके चरणोंमें जाना चाहता है—संसारमें नाना प्रकारकी यातनाओंको सहता हुआ भी अपने प्रभुके नामका कभी त्याग नहीं करता, परन्तु करुणाभावसे सदा यही कहता है कि 'हे स्वामिन्! मैं न तो आपके रूपको यथार्थ पहचानता हूँ और न आपके वास्तविक गुण-स्वभावसे ही परिचित हूँ। आपकी आज्ञाके विपरीत भी आचरण करता हूँ। मुझमें वह बल भी नहीं है जिससे मैं आपके चरणोंमें उपस्थित हो सकूँ। मार्ग भी नहीं जानता हूँ, सारांश यह है कि मैं सब प्रकारसे अवलम्बनरहित हूँ। केवल एक आपके नामका आश्रय है!' वह इस प्रकारका दीनभावापन्न नामाश्रयी अपने प्रभुके चरणोंमें अत्यन्त शीघ्र और अनायास ही जा पहुँचता है। अवश्य ही इस परम आश्रय नामका कभी त्याग न होना चाहिये! महात्मा कबीरजी कहते हैं—

रामनामके सुमिरते अधम तरे संसार।
अजामील, गनिका, स्वपच, सदना, सवरी नार॥
रामनामके सुमिरते उधरे पतित अनेक।
कह कबीर, नहि छाड़िये रामनामकी टेक॥

नामके आश्रयसे मनुष्यकी तो बात ही क्या, पशुका भी उद्धार हो सकता है। संसारासक्त स्त्री-पुत्रादिमें ममतायुक्त, वैराग्यरहित, भोगासक्त, अल्पायु, ज्ञानरहित, पापपूर्ण, निरुद्यमी, प्रमादी और सदाचाररहित जीवोंके लिये एकमात्र 'नाम' ही सुगम साधन है!

कठिन काल, मलग्रसित तनु, साधन कछुक न होय।
यह विचारि, विस्वास करि, हरि सुमिरे, बुध सोय॥
यह कलिकाल मलायतन, मन! करि देखु विचार।
श्रीरघुनायकनाम तजि नाहिन आन अधार॥

एकमात्र नाम ही जीवोंका आधार है; नाम कोई-सा भी क्यों न हो, भगवान्‌के सभी नाम समर्थ हैं। वास्तवमें आवश्यकता है भावकी। भाव ही प्रधान है, जितना उच्च भाव है उतना ही नाम महत्त्वका है। भाव क्या है—

(१) नाम और नामीको एक समझना (२) नामसे बढ़कर और कुछ भी न समझना (मुक्ति भी नहीं!) (३) नाममें प्रेम होना (४) निष्कामभाव होना और (५) नामजपको गुप्त रखना। यही भाव है। इन्हीं पाँच भावोंसे युक्त नामजप प्रशंसनीय है। नामजपकालमें नामीको प्रत्यक्ष देखते रहना चाहिये। जैसे 'गौ' शब्दके स्मरणमात्रसे ही उसका अर्थज्ञान आप ही हो जाता है वैसे ही भगवन्नामसे भी रूपका ज्ञान अनायास ही होना चाहिये। नामका नामीके साथ दृष्ट और अदृष्ट सम्बन्ध भी रहता है। जब शृङ्गारसंयुक्त शब्दोंके तथा स्त्रीके चिन्तनमात्रसे कामोद्दीपन होता है तब भगवन्नामसे हृदयमें भगवद्भावोंका उदय क्यों नहीं होगा?

नामजपमें सब प्रकारकी सुगमता भी है

न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा ।
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत् ॥

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि हमें तो नाम जपते बहुत दिन हो गये, कोई लाभ नहीं हुआ । पर ऐसा कहनेवाले यदि अपने हृदयकी ओर देखें तो उन्हें पता लगेगा कि उन्होंने सकामभावोंमें नामजपके फलको खो दिया है । निष्काम भजन हो तो निश्चय ही वह बहुत तेजीसे बढ़कर साधकका बहुत शीघ्र कल्याण कर देता है।

कृष्णनाम गुन गुप्त धन पावे हरिजन संत ।
करे नहीं जो कामना, दिन दिन होय अनंत ॥

शीघ्र लाभ न होनेमें एक हेतु आतुरताका अभाव भी है । जैसे जलमें डूबते हुए गजराजकी और चीरहरणकालमें द्रौपदीकी आतुरता थी वैसी आतुरता हो जाय तो फिर नाम पूरा होनेके पहले ही आप नामीको अपने सम्मुख देखें ।

कुछ लोग कहते हैं कि नामजपमें तो हमारी रुचि नहीं होती । क्या बिना नामजपके भगवान् नहीं आते ? इसका उत्तर यह है कि प्रभुका सम्बन्ध एक प्रेमसे है । जहाँ प्रेम है वहीं प्रभु हैं । जब प्रेमीका नाम ही हमारे लिये रुचिकर नहीं तब हममें कहाँ तो प्रेम है और कहाँ उस नामीके दर्शनकी आकांक्षा है ? जिसकी नाममें रुचि नहीं है उसका नामीमें प्रेम होना क्योंकर सिद्ध हो सकता है ? अतएव सब प्रकारसे नामाश्रय ही कर्तव्य है।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(नारद० १ । ४१ । १५)

भक्तभावतत्त्व

भक्तोंके भावोंपर मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये कुछ लिखनेका प्रयास करना दुस्साहसमात्र है; परन्तु मित्रोंके उत्साह-बलके आधारपर कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ, त्रुटियों-के लिये सहृदय पाठक-पाठिकागण क्षमा करें। भक्तोंके भाव अनन्त हैं। उन भावोंको कोई ऐसे ही भक्तजन-मानसमराल संतशिरोमणि जान सकते हैं जिनका हृदय निर्मल, कोमल, उदार, शान्त और प्रेममय है। नहीं तो क्या पाषाणमें नवनीतकी कोमलता, अग्निमें हिमकी शीतलता या नीममें मधु-सी मधुरता कभी सम्भव है? अस्तु!

भक्तोंको भगवान् और भगवान्को भक्त प्राणोंसे अधिक प्रिय होते हैं। कुछ महापुरुषोंने तो भक्तोंको भगवान्से बढ़कर बतलाया है। गोस्वामीजी कहते हैं—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
(रामा० उत्तर०)

किसानोंको बादलोंकी चाह अधिक रहती है, क्योंकि उनके खेत बादलोंकी कृपासे ही हरे-भरे होते हैं। समुद्र स्वयं उनके खेतोंमें जल नहीं सींचता। इसी प्रकार चन्दनका वृक्ष स्वयं अपनी सुगन्ध दूसरे वृक्षोंको देने नहीं जाता। सुगन्धवहनकारी वायुके द्वारा ही अन्यान्य वृक्ष सुगन्ध पाकर चन्दन बन जाते हैं। इस

प्रकार मेघ और वायुसे भक्तोंकी तुलना करते हुए तुलसीदासजीने भक्तोंकी प्रशंसा की है। अवश्य ही मेघमें जल और वायुमें सुगन्ध समुद्र और चन्दनके वृक्षसे ही आते हैं। इसी प्रकार भगवद्गुण-सम्पन्न भक्तजन दया, उदारता, प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुण विश्वमें वितरण किया करते हैं। महात्मा सुन्दरदासजी कहते हैं—

साँचो उपदेस देत, भली भली सीख देत,
समता-सुबुद्धि देत, कुमति हरतु हैं।
मारग दिखाइ देत, भावहु भगति देत,
प्रेमकी प्रतीति देत, अ-भरा भरतु हैं॥
ग्यान देत, ध्यान देत, आतमविचार देत,
ब्रह्मको बताय देत, ब्रह्ममें चरतु हैं।
सुंदर कहत जग संत कछु लेत नाहीं,
संतजन निसिदिन देवो ही करतु हैं॥

(सुन्दरविलास २९। ३०)

सोना खानमेंसे ही निकलता है। इसी प्रकार ये सब गुण भक्तोंको सर्वगुण-आकर भगवान्‌से ही मिलते हैं। भगवान्‌ने स्वयं भक्तोंकी श्रेष्ठता स्वीकार की है।

मुनि दुर्वासा भक्तराज अम्बरीषकी परीक्षाके लिये उपस्थित हैं, अकारण ही क्रोध करके वे अम्बरीष-विनाशके लिये कृत्या दानवी उत्पन्न करते हैं, भक्तभयहारी भगवान्‌का सुदर्शन चक्र कृत्याका काम तमाम कर दुर्वासाके पीछे दौड़ता है। प्राण बचाने-के लिये दुर्वासा आश्रय खोजते हुए वन, पर्वत, सर, सरिता, समुद्र, पाताल, आकाश, स्वर्ग, ब्रह्मलोक, कैलास सभी जगह जाते हैं, दीनवचन सुनाकर आश्रय माँगते हैं; पर हरिजनद्रोहीको कहीं आश्रय नहीं मिलता, अन्तमें दुर्वासा दौड़कर वैकुण्ठमें भगवान्

कमलापतिके चरणकमलोंमें उपस्थित हो गिड़गिड़ाते हुए रक्षा-प्रार्थना करते हैं। उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३, ६६–६८)

'हे ब्राह्मण! भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, मेरे हृदयपर उनका पूर्ण अधिकार है; मैं भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। जिनका हृदय मुझमें संलग्न है वे समदर्शी भक्त अपनी भक्तिसे मुझे वैसे ही वशमें कर लेते हैं जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सज्जन स्वामी-को। मेरी सेवा करनेसे उन्हें चार प्रकारकी मुक्ति भी मिलती है; परन्तु वे मेरी सेवा ही चाहते हैं, उसीमें उनकी इच्छा पूर्ण रहती है। वे कालसे नष्ट होनेवाले स्वर्गादि लोकोंकी तो बात ही क्या, मुक्ति भी नहीं चाहते। ऐसे साधुजन मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ, वे लोग मेरे सिवा अन्य किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।'

अतएव हे ऋषि! तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो—

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ७१)

—ब्रह्मन्! तुम नाभागपुत्र राजा अम्बरीषके पास जाओ, तुम्हारा भला होगा। वहाँ जाकर तुम महाभाग अम्बरीषसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगो, तब तुम्हें शान्ति मिलेगी!

सारांश यह कि भगवान् भक्ताधीन हैं, भक्तोंके प्रेमसे वे उनके हाथ बिक जाते हैं। भक्तोंके कारण भगवान् अनन्त होनेपर भी अन्तवाले-से बनकर माता कौसल्या और यशोदाकी गोदमें खेलते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन, निरगुन बिगतबिनोद।
सोइ अज प्रेम भगति बस कौसल्याकी गोद॥ (रामा० बाल०)

अखिलब्रह्माण्डके जीवोंको उनके कर्मानुसार मायारज्जुमें बाँधनेवाले भगवान् स्वयं जननी यशोदाके द्वारा छोटी-सी रस्सीमें ऊखलसे बँध जाते हैं, अजेय होनेपर भी खेलमें ग्वाल-बालकोंसे हार मानते हैं, विश्वम्भर होनेपर भी भक्तोंके चावल, बेर और केलेके छिलकोंके लिये भूखे भटकते हैं, अखिलभुवनपति होकर भी बलिके द्वारपर भिक्षुक और द्वारपाल बन जाते हैं, जगत्पिता होनेपर भी पुत्र बनकर भाग्यवान् दशरथ, नन्द और वसुदेवजीकी सेवा करते हैं, अभय होते हुए भी माता यशोदाकी यष्टिकासे डर जाते हैं, नित्यमुक्त होते हुए भी बद्ध-से बन जाते हैं, राजराजेश्वर होनेपर भी अर्जुनके रथके घोड़े हाँकते हैं और जगदीश्वर होनेपर भी दास बन जाते हैं। भक्तोंका प्रेम-प्रभाव कहाँतक कहा जाय? जो कल्याणगुणाश्रय, असीम ज्ञानानन्दैकस्वरूप, निरवधिक वात्सल्यजलधि, अनन्त गुणनिधि, अवाङ्मनसगोचर, वेदान्तवेद्य, सौकुमार्य, लावण्य, माधुर्य, कारुण्य, औदार्य आदि गुणयुक्त श्रीपति

भगवान्‌को अपने वशमें करके सब कुछ करवा लेते हैं, उन भक्तों-को बारंबार नमस्कार है !

भक्तनकी महिमा अमित, पार न पावे कोय ।
जहाँ भक्त-जन पग धरे, असदृश तीरथ सोय ॥
भक्त संग छाड़ौं नहीं, सदा रहौं तिन पास ।
जहाँ न आदर भक्तको, तहाँ न मेरो वास ॥
फिरत धाम वैकुंठ तजि, भक्त जननके काज ।
जो जो जन मन चाहहीं, धारत सो तन साज ॥
ज्यों विहंग बस पींजरे रहत सदा आधीन ।
त्यों ही भक्ताधीन प्रभु निज जन हित तन लीन ॥

जो भक्तजन भगवान्‌को इस प्रकार वशमें कर लेते हैं उनके हृदयोच्छ्वासके कुछ नमूने देखिये । ब्रह्माजी कहते हैं—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

'इस भूमिमें, खासकर वृन्दावन और उसमें भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्य है । क्योंकि गोकुलमें जन्म होनेसे किसी-न-किसी गोकुलवासीके चरणोंकी पवित्र रज सिरपर पड़ ही जायगी ।'

भीष्मपितामह कहते हैं—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥
(श्रीमद्भा० १ । ९ । ३३)

'त्रिभुवनसुन्दर तमालतरुसदृश श्यामशरीर और सूर्यकिरण-सदृश गौरवर्ण सुन्दर वस्त्र धारण किये और अलकावलीसे छाये हुए सुशोभित मुखकमलवाले अर्जुनसखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम भक्ति हो।'

प्रह्लाद कहते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥

(विष्णु० १।२०।१८)

हे नाथ! मैं अपने कर्मानुसार अनन्त योनियोंमेंसे जिस-जिसमें जन्म ग्रहण करूँ, उसीमें आपके श्रीचरणोंमें मेरी अटल भक्ति बनी रहे।

सुतीक्ष्णजी कहते हैं—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निस्काम॥

(रामा० अरण्य०)

भरतजी कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥

(रामा० अयोध्या०)

रसखानजीकी उक्ति भी सुनिये—

गिरि कीजै गोवरधन, मोर नवकुंजनको,
पसु कीजै महाराज नंदके बगरको।
नर कीजै तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
तन कीजै रावरेई गोकुल नगरको॥

एक प्रेमी कामना करते हैं—

कब हौं सेवाकुंजमें ह्वैहौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि विरमिहैं ललित लडैती लाल॥

दूसरे पुकारते हैं—

मिलिहैं कब अँग छार है श्रीवनवीथिन धूर।
परिहैं पदपंकज जुगल मेरे जीवन मूर॥

तीसरेकी चाहकी बानगी भी देखिये—

कब कालिंदी कूलकी ह्वैहौं तरुवरडार।
ललितकिसोरी लाडिले झूलैं झूला डार॥

कहाँतक गिनाया जाय? भक्तोंकी हृदयध्वनिको भक्त ही समझ सकते हैं, हमें तो वारंवार इनके चरणोंमें नमस्कार ही करना चाहिये।

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे॥

'जो भक्तजन मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, जिन्होंने पद-पदपर आनन्द बढ़ानेवाले भक्ति-साधनका अवलम्बन कर समस्त ब्रह्माण्डके मुकुटमणि प्रभुको अपने वशमें कर लिया है, उन भक्तों-को, उस भक्तिको और उस भक्तिप्रिय हरि भगवान्‌को हम निरन्तर वन्दन करते हैं और सदा उनके शरणमें रहना चाहते हैं।'

भगवद्भजनतत्त्व

साधारणतः लोग नामके जापमात्रको ही भजन-क्रिया मानते हैं। यद्यपि नामोच्चारण भी भजन है, तथापि अन्य प्रकारसे की गयी भगवत्-सेवाको भी भजन ही समझना चाहिये। भगवद्भजन किसी एक प्रकारकी क्रियामें सीमाबद्ध नहीं होता। 'भजन' शब्द 'भज्' धातुसे बनता है और 'भज्' धातु 'सेवायाम्' कहा है। तात्पर्य यह कि भजनीयकी सेवा, उनकी इच्छानुसार बर्तना,—चाहे वह किसी भी प्रकारसे किया जाय—भजन है। इसके अन्दर यह बात निःसन्देह रहती है कि प्रभुकी स्मृति अर्थात् यादगारी कभी छूटती नहीं। यदि भगवत्स्मृतिको भूलकर माला हाथमें लेकर जिह्वासे नामोच्चारण किया जाय और हृदयके

अंदर प्रभुकी स्मृतिके बदले संसारका चिन्तन रहे, तो इसको सच्चा भजन नहीं कहा जाता। जैसे कबीरदासजीने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरण नाँहि॥

वास्तवमें यह बात सची है। भजनमें भाव प्रधान है, क्रिया प्रधान नहीं। यही कारण है कि प्रायः भजन करनेवाले सच्ची भगवत्प्रीति और सच्चे भगवद्भावकी उपेक्षा करके केवल बहिरंग क्रियापरायण होकर न अधिक लाभ ही उठाते हैं और न अच्छा आदर्श ही स्थापित कर पाते हैं, क्योंकि भजनमें तो सच्ची लगनकी आवश्यकता है। जैसे कहा भी है—

रामनाम सब कोइ कहै, ठग, ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझे नहीं, नागर नंदकिशोर॥

मनुष्य संसारके मनुष्योंको धोखा दे सकता है; किन्तु जो 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः'—बाहर, भीतर, दूर-से-दूर, निकट-से-निकट, अन्तर-से-अन्तरतम है, जिसकी शक्तिसे इस चराचर जगत्के यावन्मात्र कार्य हो रहे हैं, उससे भला किसीका भाव कैसे छिप सकता है? नामजप करते हुए भी सच्चा और अधिक लाभ होनेमें कुछ बाधक और साधक बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है। प्रथम तो भजन करनेवालोंके हृदयमें यह प्रधान उद्देश्य होना चाहिये कि स्वामीकी जिस कार्यमें सम्मति है या प्रसन्नता है, वही हमारा भजन है। स्वामी जिससे अप्रसन्न हो, वह हमारे लिये परम निषिद्ध कार्य है।

प्रभुकी महानता, अनन्तता, सर्वव्यापकता, सर्वगुणाश्रयता, सर्वाधारभाव अच्छी प्रकार जानकर उनकी आज्ञानुसार जो भी कर्म किया जाता है, वह सब प्रभुका भजन ही है अर्थात् प्रभुकी सेवा है। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

अर्थात् जिस प्रभुसे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे समस्त जगत् व्याप्त है, उस प्रभुको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है। स्वाभाविक कर्मोंद्वारा प्रभुका पूजन इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिको सर्वस्व समझकर उसीका चिन्तन करती हुई उसके आज्ञानुसार उसके लिये ही मन, वाणी तथा शरीरसे कर्म करती है, उसी प्रकार अपने प्रभुको सर्वस्व समझकर उनकी स्मृति रखते हुए उनकी आज्ञानुसार उन्हींकी सेवाके उद्देश्यसे जो भी स्वाभाविक कर्तव्य कर्मका आचरण किया जाता है, वह अपने प्रभुकी सेवा ही है।

भजनमें एक अपने प्रभुकी या प्रभुके प्रेमकी कामनाके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुकी कामना नहीं होनी चाहिये। जहाँ कुछ भी अन्य चाह होती है, वह भजन व्यभिचारी भजन हो जाता है। जैसे भगवान्‌ने कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। (गीता १३। १०)

अर्थात् मुझमें अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति (भी ज्ञानका एक अङ्ग) है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। (गीता १४। २६)

अर्थात् मुझको जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे भजता है ।

जब भजनमें भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यकी चाह होती है और भजा जाता है भगवान्‌को केवल इसलिये कि इनको भजनेसे हमारी इच्छित वस्तु मिलेगी, तो यह वास्तवमें जिसकी चाह है उसीका भजन है, भगवान्‌में तो यह केवल कैतवप्रेम है । अतएव भजन सदा शुद्ध, निष्काम और प्रेम अकैतव होना चाहिये । भजन गुप्त रखनेका प्रयत्न होना चाहिये । गुप्त साधन वृद्धिको प्राप्त होता है और निर्दोष रहता है और इससे विघ्न उपस्थित नहीं होते; किन्तु प्रकाश्य साधनमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदि अनेक विघ्न प्राप्त होनेका भय रहता है ।

भजनमें शुद्ध आचरणकी प्रधान आवश्यकता है । ऐसा भी देखा जाता है कि भजन भी करते हैं, पर पापाचारी हैं । ऐसी अवस्थामें लाभ कैसे हो सकता है ? कुछ लोग कहेंगे कि भजनसे पापाचार स्वयं ही दूर हो जायगा; किन्तु ऐसा विचार करना ठीक नहीं । क्योंकि पापाचरण स्वेच्छासे और कामनासे किया जाता है । अर्जुनने जब भगवान्‌से प्रश्न किया था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३ । ३६)

अर्थात् हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात् लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणासे पापका आचरण करता है ?

भगवान् उस समय अर्जुनके इस भ्रमयुक्त भावको दूर करते हुए उत्तर देते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३ । ३७)

अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह महाशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे तृप्त न होनेवाला और बड़ा पापी है। इस विषयमें अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें तू इसको वैरी जान।

इसलिये भजनमें पापाचरणको आश्रय नहीं देना चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अमानित्व, निष्कपटता, अक्रोध, सेवा, सन्तोष आदि सद्गुणोंको ही अपने हृदयमें स्थान देना चाहिये। नामजप करनेके कालमें प्रभावसहित नामीकी विस्मृति नहीं होनी चाहिये। जैसे कहा है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योग० १ । २८)। और भी कहा है—'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (योग० १ । १४)। अर्थात् उपरोक्त प्रकार जप सत्कारपूर्वक निरन्तर और दीर्घकाल-तक करनेसे जपकी दृढ़ स्थिरता होती है। कारण यह है कि अनेक कालका विषयासक्त मन शीघ्र साधनपरायण नहीं होता। अधिक कालतक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकारके साधनोंसे युक्त होकर चेष्टा करनेसे अधिक लाभ होता है। बहिरङ्ग साधन उसको कहते हैं, जैसे एकान्त देशमें रहना, कम्बल, मृगचर्म, कुशादिका आसन, स्वस्तिकासन, सिद्धासन या पद्मासनसे बैठना, माला आदि रखना, खान-पानका संयम रखना इत्यादि। अन्तरङ्ग

साधन उसे कहते हैं, जैसे ईश्वरके गुण, प्रभाव, महिमा, स्वरूप आदिको अच्छी प्रकार हृदयंगम करना; अन्तःकरणसे काम, क्रोध, लोभ आदिको निवारण करनेका यत्न करते रहना; विशुद्ध भगवत्प्रेम, निष्कामभाव, मनकी स्थिरता आदि। बहिरङ्ग साधनोंसे अन्तरङ्ग साधन श्रेष्ठ हैं। अतएव जगत्में मनुष्यशरीर प्राप्त करके अपने परमहितके साधनोंसे विमुख नहीं रहना चाहिये। जो विमुख रहता है उसे बुद्धिमान्‌गण आत्मघाती कहते हैं क्योंकि वह अपना नाश स्वयं करता है। जो गलेमें फांसी लगाकर, जलमें डूबकर, विष खाकर या अस्त्रादिसे अपने प्राणोंका नाश करता है, वही केवल आत्मघाती नहीं है, वरन् जो—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(भाग० ११।२०।१७)

अर्थात् साधनोंके उत्तम फलस्वरूप यह मनुष्यशरीर अत्यन्त दुर्लभ है। कारण, संसारमें मनुष्येतर जीवोंकी संख्या अनन्त है और मनुष्योंकी संख्या उनकी अपेक्षा बहुत कम और परिमित है, तथा समस्त जीवोंमें मनुष्ययोनि ही श्रेष्ठ है। इसलिये यह दुर्लभ मनुष्यशरीर भगवत्कृपासे सुलभ हो गया है। यह मनुष्यशरीर संसारसागरसे पार जानेके योग्य सुदृढ़ नौकासदृश है। इस नौकाको ठीक मार्गमें रखनेवाला कर्णधाररूप सद्‌गुरु माना जाता है और भगवत्कृपारूपी अनुकूल वायु तो सदा सबको प्राप्त है ही। इस प्रकारके सब आयोजन प्राप्त होनेपर भी जो मनुष्य अपना कल्याण नहीं करता, वह आत्मघाती है। आत्मघातीसे यहाँ क्या

तात्पर्य है ? क्योंकि वास्तवमें आत्माका तो त्रिकालमें भी नाश नहीं होता । जैसे—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

(गीता २ । १९)

अर्थात् जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है, तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है । अस्त्रादि अन्य किसी वस्तुसे भी इस आत्माका नाश नहीं होता । जैसे—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

(गीता २ । २३)

अर्थात् इस आत्माको शस्त्रादि नहीं काट सकते, इसको अग्नि नहीं जला सकता, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता । अतएव आत्मा अवध्य और अच्छेद्य है; फिर आत्मघात क्यों कहा जाता है ? जो मनुष्य अपना वास्तविक स्वरूप बिना जाने अपना परमहित किये बिना ही स्वेच्छासे अपना प्राण नाश करते हैं, अथवा समयपर शरीरसे प्राणोंका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, इन दोनों ही अवस्थाओंका परिणाम ख़राब ही होता है । जैसे भगवान्ने कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(गीता १६ । १९-२०)

अर्थात् उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी, क्रूरकर्मी, नराधमोंको मैं संसारमें बारंबार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ; कूकर, शूकर आदि नीच योनियोंमें भेजता हूँ। अतएव हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझको (भगवान्‌को) प्राप्त न होकर उनसे भी नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

इस परिणामको ही आत्मघात कहा गया है, क्योंकि भगवद्-भजनविमुख पुरुष अपनेको जो भी कुछ समझता है, उससे क्रमशः अधिकाधिक अधम योनिमें गिरता चला जाता है। जो मनुष्य अपने-आप अपना प्राण नाश करते हैं, वे निःसन्देह ईश्वर-विमुख होते ही हैं; क्योंकि भगवद्भक्त आत्महत्या नहीं करते। इस आत्मप्राणनाश अपराधके साथ ईश्वरविमुखताका अपराध भी शामिल है। इसीलिये इन्हें आत्मघाती कहते हैं। अतएव हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम अपने परम हितके साधनका उपाय करें। हमसे अबतक जितना भी अपराध और पाप हुआ है, भगवद्-आश्रयसे वह सब दूर हो सकता है। हाँ, यह अवश्य अच्छी प्रकार समझ रखनेकी बात है कि भगवद्भजनसे सब पाप दूर होते हैं; पर यदि भगवद्भजनका आधार लेकर पाप करें अर्थात् यह समझ-कर पाप करें कि भजन करके पापोंका नाश कर देंगे, तो ऐसे भाव रखनेवालोंके पाप नाश नहीं होते; क्योंकि उन्होंने भजनको पाप करनेका साधन बनाया है और भगवान्‌को धोखा देना चाहा है। इसका परिणाम यह होता है कि वे स्वयं जबरदस्त धोखा खाते हैं और अन्तको नरकगामी होते हैं। तात्पर्य यह कि

मनुष्य अपना हित और अनहित करनेवाला वास्तवमें स्वयं आप है। जैसे—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
> (गीता ६।५)

'अपने द्वारा अपने आपका संसारसमुद्रसे उद्धार करे, अपनी आत्माको अधोगतिमें न पहुँचावे; क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

> बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
> अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
> (गीता ६।६)

अर्थात् उस जीवात्माका वह आप ही मित्र है जिसने अपने द्वारा मन-इन्द्रियोंसहित शरीर जीत लिया है और जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता है, उसके लिये वह शत्रुके सदृश आप ही शत्रुतामें बर्तता है।

अन्तमें बद्धाञ्जलिसे यह प्रार्थना है कि उस श्यामसुन्दर नन्दनन्दनका सर्वभावेन आश्रय लेना ही परम कर्तव्य है—'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन' और—

> कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति
> रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
> ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं
> हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे॥
> (पाण्डवगीता ११)

साधनतत्त्व

रम पुरुषार्थ क्या है ? इस बातको चाहे सब लोग न जानते हों, पर इतना तो किसीको समझाना नहीं होगा कि दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और अनन्त परमानन्द-की प्राप्ति तो सभी (अज्ञ और विद्वान्) चाहते हैं। वास्तवमें इसीका नाम परम पुरुषार्थ है। इसकी सिद्धिके लिये जगत्में अनेक साधन हैं और उन साधनोंमें बहुत कुछ मतभेद भी देखा जाता है। यहाँ इस विषयका बहुत विस्तार न करके संक्षेपमें ही अपने विचार प्रकट किये जाते हैं। कल्याणकामी सज्जन अपने-अपने विचारानुसार साधन करते ही हैं और वे सभी वन्दनीय हैं। यदि नीचे लिखे विचार किसीके कुछ कामके होंगे तो आनन्दकी बात होगी। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि साधन तेज नहीं होता अथवा इच्छा रहते हुए भी साधन बिल्कुल ही नहीं बनता। विचार करना चाहिये कि इसका क्या कारण है ? मेरी

समझसे साधनका रहस्य न समझनेके कारण ही ऐसा होता है। यहाँ साधनके चार प्रकार लिखे जाते हैं, यदि कुछ गम्भीरतासे विचार किया जायगा तो चार प्रधान भेद स्पष्ट दिखलायी देंगे। इनको जानकर अपनी रुचि और अधिकारानुसार इनका अलग-अलग या यथाक्रम समुच्चय करके प्रयोग करना चाहिये।

१–*क्रियासाध्य साधन*–उसको कहते हैं जिसको करना अपने अधिकारमें हो—जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध या अन्य किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता हो, तथा जिसको सभी केवल इच्छामात्रसे कर सकते हैं। जैसे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, भगवन्नामजप इत्यादि।

२–*अभ्याससाध्य साधन*–उसको कहते हैं, जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध आदिकी अपेक्षा तो नहीं रखता, पर जिसमें पुनः-पुनः आवृत्तिकी आवश्यकता है। जैसे—निरन्तर जप, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका सहन, अक्रोध इत्यादि।

३–*बोधसाध्य साधन*–उसको कहते हैं जो विचार और समझके आधारपर किया जा सके। यह साधन विचार और समझके बिना नहीं बन सकता—जैसे परमात्माकी सर्वव्यापकताका अनुभव, सबमें भगवद्दर्शन, ध्यान, संसारकी अनित्यताका ज्ञान, भगवान्‌के सुहृदता, दयालुता आदि गुणोंका जानना इत्यादि।

४–*भगवत्कृपासाध्य साधन*–उसको कहते हैं जिसमें साधनकी अपनी कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं रहती। यह साधन

अपनी इच्छामात्रसे नहीं बनता, केवल प्रभुकृपासे ही बनता है। यही चरम साधन है, परम पुरुषार्थप्राप्तिका यही साक्षात् साधन है। इसीको श्रीनन्दनन्दनने इन शब्दोंमें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको (मैं) वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०।११)

'उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।'

जिस कालमें यह साधन होने लगता है, उस कालमें बिना ही परिश्रम सब साधन अपने आप होने लगते हैं, बिना ही समझाये सब तत्त्व समझमें आने लगते हैं, अपार प्रेमका प्रवाह बहने लगता है और साधक अहर्निश प्रभुके प्रेममें निमग्न रहता है।

साधन-तत्त्वसे अनभिज्ञ साधक क्रियासाध्य साधनको भगवत्कृपासाध्य मानकर अविवेकसे निश्चिन्त हो बैठते हैं। अभिमानके नाशके लिये सभी अवस्थाओंमें भगवत्कृपाका मानना सर्वसम्मत है और इसकी आवश्यकता भी है। परन्तु ऐसे लोग तो अकर्मण्यता, आलस्य और प्रमादजन्य दोषसे सदाचार और

सत्क्रियाओंको करनेकी सामर्थ्य और स्वतन्त्रता रहते हुए भी उन्हें नहीं करते—जैसे गोस्वामीजीने कहा है—'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ', साधन-सम्बन्धमें स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहते। सांसारिक कर्मोंमें पूर्ण कुशल और उद्योगी रहतेहैं, परन्तु अपने हितकर कल्याणकारी कामोंमें प्रभुकृपाका बहाना बतलाकर उदासीनता, असमर्थता प्रकट करते हैं। ऐसे ही लोग 'सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ' गोस्वामीजीके इन वचनोंको चरितार्थ करते हैं। ऐसे मनुष्योंको कुछ लाभ नहीं होता, वरं इनका अधःपतन ही होता देखा जाता है।

अभ्यासजन्य साधनके विषयमें पतञ्जलि ऋषिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योगदर्शन १।१४)

'यह साधन दीर्घकाल निरन्तर और सत्कारपूर्वक करनेपर दृढ़ होता है।' जल्दी ही सिद्धि पानेकी उमंगमें जो साधक यह साधन करता है, वह आगे चलकर अपने मन-इच्छित समयमें यथार्थ लाभ न देखकर हताश हो जाता है। एक मन्दबुद्धि मनुष्यने किसीके खेतमें गेहूँसे लदे हुए पौधोंको देखकर अपने खेतमें भी वैसे ही गेहूँ पैदा करनेके लालचसे उससे पूछा कि 'भैया! मेरे खेतमें गेहूँ कैसे हो सकते हैं?' उक्त मनुष्यने कहा कि जमीनमें अच्छी तरह अन्न छींटकर उसे पानीसे सींचते रहो। आप ही अन्नसे भरे पौधे तैयार हो जायँगे। उसने अपने खेतमें अन्न छींट दिया और जल भी सींच दिया, पर मन्दबुद्धिवश उचित समयकी बाट न देखकर एक-ही-दो दिनोंके बाद खेतमें गेहूँके

वैसे पौधे न देखकर हताश हो गया और जल सींचना बन्द कर दिया तथा पश्चात्ताप करता रहा। इसी प्रकार शीघ्रतासे फल चाहनेवाले लोग अभ्यासजन्य साधन नहीं कर पाते।

क्रियासाध्य साधन और अभ्याससाध्य साधन होनेपर भी कभी-कभी साधकके हृदयमें समत्व और उदार भाव प्रकट नहीं होते। इसका कारण है बोधसाध्य साधनका अभाव। यह साधन विचारसे प्राप्त होता है, चाहे वह विचार किसीके समझानेसे या शास्त्रोंके गम्भीर विचारसे उदय हो। इस प्रकार जब बोधसाध्य साधन होने लगता है तब किसी पक्षविशेषका आग्रह नहीं रहता। वह साधक भगवत्-तत्त्वमें हर समय सावधान रहता है।

प्रभुकृपासाध्य साधन प्रभुकी अनन्यशरणको ही कहते हैं। परन्तु आजकल इसके चाहे जैसे मनमाने अर्थ लगाये जाते हैं, अन्याय-दुराचार करते हुए भी लोग अपनेको प्रभुशरण कहते रहते हैं और प्रभु-आज्ञाका किञ्चित्मात्र भी पालन नहीं करते। इन्हीं सब कपटव्यवहारोंके कारण वे लोग प्रभुकृपासे वञ्चित रहते हैं। जो लोग अपनी शक्तिके अनुसार क्रियासाध्य साधन करते हैं, बुद्धिके अनुसार विचार करते हैं तथा दीर्घकालतक इसीमें लगे रहते हैं और सब साधनोंको प्रभुके ही आश्रित मानते हैं उनके कल्याणका जिम्मेवार स्वयं भगवान्को होना पड़ता है। देखिये गीता ९।२२ और १२।७।

सेवातत्त्व

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(भाग० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि, जीवगण, दिशाएँ, वृक्षादि, नदी, समुद्रादि जो कुछ है, सबको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर अनन्य भावसे प्रणाम करे।'

संसारमें उसी मनुष्यका जीवन धन्य है जो सेवासे युक्त है और जो हृदयमें अपनेको सेवक तथा जगत्‌में जो कुछ है, सबको अपने स्वामीकी मूर्ति मानता है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने भी कहा है—

सो अनन्य जाकी असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥
(रामा०—किष्किन्धा०)

क्या ही सुन्दर भाव है । सच्चे अनन्य भक्तकी यही पहचान है । अतएव मनुष्यमात्रको सच्चा सेवक बननेका यत्न करना चाहिये । प्रायः हमलोग सेवकके स्थानमें स्वामी बननेको ही उत्सुक रहते हैं, क्योंकि हमारी चाह ही ऐसी होती है । 'सब लोग हमें आराम पहुँचावें, हम सुखी बने रहें, दूसरोंके दुःखकी हमें कुछ भी परवा नहीं; सब हमारी सेवा करें, हम किसीकी सेवा करना नहीं चाहते; जगत्‌में सब भोग हमारे लिये ही बने हैं और सारा संसार हमारे लिये ही है; पर हम किसीके लिये नहीं हैं ।' यही स्वामीपनके भाव हैं । सच्चे सेवकके भाव इससे बिल्कुल भिन्न होते हैं, वह किसीसे कभी सेवा करानेका भाव स्वप्नमें भी नहीं रखता । बलात्कार यदि कोई उसकी सेवा करे तो इससे उसे व्यथा होती है, पर वह स्वयं अन्यकी सेवा करके आनन्दका अनुभव करता है । ऐसे सेवकको सेवा करनेमें चाहे कितने ही कष्टोंका सामना क्यों न करना पड़े, सेवाके हेतु प्राणविसर्जन ही क्यों न करना पड़े; फिर भी उसे लेशमात्र भी कष्ट नहीं होता, बल्कि आनन्द-ही-आनन्द होता है । इस प्रकारकी सेवा वह निर्विशेषभाव-से करता है । तात्पर्य यह है कि सेवा करते समय, 'अमुक हमारे सम्बन्धी हैं, प्रेमी हैं; अमुक व्यक्ति धनी है, साधु-महात्मा है' इत्यादि हेतु उसके सामने नहीं होते । मनुष्यसेवाकी तो बात ही क्या, वह तो पशु-पक्षी आदिकी भी सेवा करके अपनेको धन्य मानता है । उसका हृदय सदा दयासे पूर्ण होता है । किसीका दुःख उससे सहन नहीं होता, अपनी शक्तिके अनुसार वह सदा दूसरोंके दुःख दूर करनेमें यत्नशील रहता है । पूज्यपाद गोस्वामी

तुलसीदासजीने जैसा संतके हृदयका वर्णन किया है, सच्चे सेवकका हृदय भी वैसा ही होता है—

संतहृदय नवनीतसमाना। कहा कबिन, पै कहा न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। संत द्रवइ पर ताप पुनीता॥
(श्रीराम० उत्तर०)

सेवासे क्या लाभ है ?

कहा जाता है कि सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेका अर्थ है सेवाभावसे और सेवाकार्यसे अन्तःकरणमें दिनोंदिन उत्तरोत्तर दया, निष्कपटता, प्रेम, उदारता, सरलता, निर्भीकता, तेज, त्याग, उत्साह आदिकी वृद्धि तथा पाप, पक्षपात, स्वार्थ, निर्दयता, छल, निन्दा, भय, आलस्य, प्रमाद, लोभ, मोह आदिका नाश होना। यही अन्तःकरणकी शुद्धि है। किस प्रकारसे उपर्युक्त सद्‌गुणोंकी प्राप्ति तथा दुर्गुणोंका नाश होता है, इसका स्पष्टीकरण विस्तारभयसे यहाँ नहीं किया जाता है; पाठक स्वयं ही विचार लें।

साधारणतः लोग सेवाका अर्थ केवल दूसरोंको भोजन या वस्त्र देना, रहनेको स्थान देना, द्रव्य देना या शुश्रूषा करना इत्यादि समझते हैं। यद्यपि ये सभी सेवाके कार्य हैं, तथापि सेवाके अनेक परदे हैं जो समझनेयोग्य हैं। उनका स्पष्टीकरण अपनी बुद्धिके अनुसार पाठकोंके सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

सच्ची सेवा

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि जिस कार्यको करनेसे दोनोंका (अर्थात् जिसकी सेवा की जाय उसका तथा सेवकका)

हित हो और उन्हें सुख मिले और जिसमें किसी प्रकारके स्वार्थ-की गन्ध भी न हो तथा जिसमें कोई हेतु या अभिमान न हो, वही सच्ची सेवा है। सेवाकी ऐसी व्याख्या क्यों की जाती है? बात यह है कि जिसकी सेवा की जाती है उसको उससे सुख न मिले बल्कि दुःख होता हो तो वह सेवा नहीं कही जा सकती, उसे तो पीडा पहुँचाना ही कहना ठीक होगा। इसी प्रकार जो सेवा सेवक कष्ट सहता हुआ दुःखपूर्वक करता है वह सेवा भी प्रशंसनीय नहीं होती, क्योंकि ऐसी अवस्थामें सेवक किसी भी कारणसे बाध्य होकर बिना प्रेमके सेवा करता है। यदि वह प्रेमपूर्वक सेवा करता तो देखनेवाले दूसरेकी दृष्टिमें प्राणान्तक कष्ट-को सहते हुए भी वह स्वयं किञ्चिन्मात्र भी दुःखका अनुभव न करता, बल्कि परमानन्दको ही प्राप्त होता तथा सेव्यके हित प्राण-का भी बलिदान करनेमें अपना अहोभाग्य समझता। इस विषयमें एक आख्यायिका शास्त्रोंमें आती है—

राजा रन्तिदेव विख्यात दानी थे। वे सदा दानमें अपना धन देते रहते थे। वे इतने बड़े दानी थे कि स्वयं भूखों रहकर भी पासके अन्नको भूखेको दे डालनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। एक बार दान करते-करते राजा रन्तिदेवने अपना सब धन दानमें दे डाला और आप परिवारसहित भूखों मरने लगे। इस प्रकार अड़तालीस दिन व्यतीत हो गये, भूख-प्याससे उनका शरीर अवसन्न हो गया, परन्तु उनके हृदयकी प्रसन्नतामें कोई कमी न आयी। उनचासवें दिन राजाको कुछ भोजनकी सामग्री मिली। वे भोजनकी तैयारी कर ही रहे थे कि एक भूखा ब्राह्मण अतिथि

आ पहुँचा । राजाने प्रीतिपूर्वक उसे भोजन कराया और बचे हुए अन्नको अपने परिवारमें बाँटकर वे अपने हिस्सेका अन्न भोजन करनेके लिये बैठे । इतनेहीमें एक भूखा शूद्र अतिथि आ गया । राजाने अपने हिस्सेसे उसे भोजन कराया और वह तृप्त होकर चला गया । इसके पश्चात् एक दूसरा अतिथि बहुत-से कुत्तोंको साथ लेकर आया और बोला—'हे राजा, मैं और मेरे कुत्ते भूखे हैं, कुछ खानेको दीजिये ।' राजाने बचा हुआ अन्न उसे सम्मान-पूर्वक देकर प्रणाम किया । अब राजाके पास केवल जलमात्र बच रहा, वह उसे पीकर अपनी प्यास बुझाना ही चाहते थे कि इतनेमें एक चाण्डाल वहाँ आ पहुँचा और गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि 'महाराज ! मैं बहुत ही थका-माँदा हूँ, मुझे पीनेके लिये थोड़ा-सा जल दीजिये ।'

इस दीनतापूर्ण वचनको सुनकर राजाने वह बचा हुआ जल भी उसको पिला दिया और भगवान्‌से यह प्रार्थना की—

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
> आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥
>
> (भाग० ९ । २१ । १२)

अर्थात् 'मैं परमेश्वरके निकट अणिमादि अष्ट सिद्धियोंसे युक्त गति अथवा मुक्तिकी कामना नहीं करता । मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर दुःख भोग करूँ जिनसे उनका दुःख दूर हो जाय ।' इसके बाद राजाको

त्रिभुवनपति भगवान्‌ने अपना दिव्य दर्शन दिया। भगवान् ही इस प्रकार विभिन्न रूप धारणकर रन्तिदेवकी परीक्षा कर रहे थे। इस प्रकार सच्चा सेवक सेवामें कष्ट नहीं मानता, बल्कि जितनी ही अधिक कष्टप्रद सेवा होती है उतना ही अधिक वह अपनेको धन्य समझता है।

जो सेवा स्वार्थसे की जाती है वह सच्ची सेवा नहीं है, क्योंकि स्वार्थसे सेवा करनेवाला जहाँ स्वार्थ नहीं देखता वहाँ सेवामें तत्पर नहीं होता और स्वार्थ सिद्ध हो जानेके बाद उसका सेवाभाव भी नहीं रहता। ये हमारे सम्बन्धी, कुटुम्बी हैं, या साधु-महात्मा हैं, अथवा ये काम पड़नेपर हमारी सहायता कर सकते हैं, इस प्रकारके हेतु भी सेवामें प्रशंसनीय नहीं हैं। इस प्रकारकी सेवा संकुचित होती है। इसे निर्विशेष अहैतुकी सेवा नहीं कह सकते।

सेवकके हृदयमें सेवाके उपरान्त यदि यह भाव उत्पन्न हो कि मैंने अमुककी सेवा की है अथवा उपकार किया है तो इस प्रकारका अभिमान सेवाको तुच्छ बना देता है। भक्त नरसीजी महाराज कहते हैं—

वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे॥

सच्चा सेवक सेवा करके अपनेको उपकृत मानता है और जिसकी सेवा करता है उसको उपकारक मानता है। सेवाकार्यमें भी भाव ही प्रधान है। सेवककी भावना जितनी ही ऊँची होगी,

सेवा भी उतनी ही उच्च कोटिकी समझी जायगी। यों तो संसारमें वेतनभोगी सेवक अनेक प्रकारकी छोटी-बड़ी सेवा करते हैं, पर उससे उनके हृदयमें उपर्युक्त दिव्य गुणोंका आविर्भाव नहीं होता और न उन्हें परमानन्दकी प्राप्ति ही होती है। सच्चे सेवककी निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं—

१—वह अपनेको कभी स्वामी नहीं मानता।

२—वह जीवमात्रकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है।

३—सेवा करके पश्चात्ताप नहीं करता।

४—सेवा करके दुखी नहीं होता।

५—सेवा करके अभिमान नहीं करता।

६—सेवा करके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहता।

सेवामें जितना ही अधिक त्याग होता है, सेवा भी उतनी ही अधिक मूल्यवान् होती है। किसीको प्रसन्न करनेके लिये जो सेवा होती है वह तो दिखौआ, नकली सेवा है।

सेवा किसकी करनी चाहिये

जो किसी प्रकारसे आर्त्त या दुखी हैं, जिन्हें सहायता या सेवाकी आवश्यकता है, अथवा जो सेवा करनेसे असन्तुष्ट नहीं होते उनकी सेवा अवश्य ही करनी चाहिये। जो सेवा कराना नहीं चाहते पर सेवा करनेपर प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी नहीं प्रकट करते उनकी भी सेवा करनी चाहिये! पर जो सेवा नहीं कराना चाहता और बलात् की हुई सेवासे असन्तुष्ट होता है, वहाँ

उसकी आज्ञाका पालन करना ही सेवा है। क्योंकि वह आदर्श पुरुष होता है, उसका व्यवहार जगत्के लिये शिक्षाप्रद और अनुकरणीय होता है, उसे आदर्शसे हटानेका प्रयत्न करना अनुचित है। सेवक और सेव्यमें भाव-विलक्षणताके कारण कभी-कभी ऐसा होता है कि सेव्य ही सेवककी कोटिमें आ जाता है और सेवक सेव्य बन जाता है। जैसे कोई सत्पुरुष, जो सेवा कराना नहीं चाहता और स्वयं सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जो सेवाके रहस्यको अच्छी तरहसे जानता है और अपने आवश्यक कार्योंको स्वयं ही करता है, उससे यदि कोई सेवक सेवा करानेके लिये विशेष आग्रह या हठ करे और सेवा न करानेसे इसके दिलमें दुःख हो तो (यद्यपि इस प्रकारका दुःख होना सर्वथा अनुचित है) ऐसी स्थितिमें केवल सेवककी प्रसन्नताके लिये ही अनिच्छासे उसकी सेवाको अंगीकार करना सेव्यको सच्चे सेवककी कोटिमें ला देता है क्योंकि इसमें अन्यके सुखके लिये वह अपने सुखका त्याग करता है। ऐसे उदाहरणोंमें सेवक भी तत्त्वतः सेव्य बन जाता है क्योंकि वह अपनी प्रसन्नताके लिये ही आग्रहवश सेवा करता है। यही भाव-वैचित्र्य है।

सुख-दुःखतत्त्व

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। (मनु० ४। १६०)

कीट-पतंगादिसे लेकर देवतातक जगत्‌के समस्त जीव सुख-दुःखके उलझनोंमें फँसे हुए हैं। जिधर देखिये उधर ही सभी इसी चक्रमें भ्रमित हैं कि हमें सुख मिलें, हम सुखी होवें, हमें दुःख न मिलें, दुःखोंसे हमारा बिल्कुल छुटकारा हो जाय। परन्तु फल यह हो रहा है कि सुख तो मिलता नहीं है, उलटे लोग दुःख-ही-दुःखके समुद्रमें गोते खा रहे हैं। यह बड़ा ही आश्चर्यमय खेल है कि जिसे हम सुख समझते हैं और सुखरूप जानकर अपनाते हैं वही फिर दुःखकी मूर्ति दिखलायी देने लगता है। हा! मन्दभाग्य जीव! इस मृगतृष्णामें पड़कर तैंने बहुत समय बिता दिया, पर तुझे सच्चे सुखकी बूँद भी न मिली। गोस्वामीजीने सच कहा है—

ऐसेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने॥
सुख-हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने।
सदा मलीन पंथके मल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने॥
यह दीनता दूरि करिबेको अमित जतन उर आने।
तुलसी चित-चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने॥

(विनयपत्रिका)

सांसारिक जीवन सुख और दुःख इन दो वस्तुओंके अन्दर ही सीमाबद्ध हो रहा है। हमारे सम्पूर्ण उद्योग, परिश्रम या क्रिया-का परिणाम स्वेच्छासे या अनिच्छासे जो कुछ भी होता है उसको

हमलोग कभी सुख कहते हैं और कभी दुःख कहते हैं। यही हम-लोगोंकी आदत पड़ गयी है, इसपर हम कभी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते।

सूर खनत ही जनम गयो, कबहुँ न तृपत भयो।

तालाब खोदते-खोदते उम्र बीत गयी, पर जल पीकर कभी तृप्त नहीं हुए। यही दशा हमारी हो गयी है।

जो मनुष्य इन दोनों (सुख-दुःख) के फंदेसे छुटकारा पा जाता है वही कल्याण-पदका या अनन्त शाश्वत सुखका अधिकारी होता है। सुख यद्यपि वाञ्छनीय है तथापि ऊपर जिस सुखके त्यागकी बात कही गयी है वह सुख कुछ और वस्तु है, और वाञ्छनीय सुख कुछ और ही है। इसीका विवेचन यहाँ संक्षेपमें करना है।

संसारासक्त लोगोंका सुख क्या है? कोई आपात रमणीयताको, कोई आपात आह्लादको, कोई प्राकृतिक विषयजन्य परिणामको, कोई प्राकृतिक विषयोंमें अभ्यासजनित परिणामको सुख मानते हैं। जैसे (१) सुन्दर स्त्रीके सौन्दर्यरूप रमणीयताको सुख मानना। यह आपात इसलिये कहा जाता है कि शारीरिक रूप-लावण्य कुछ कालके बाद उस दूसरे रूपमें परिणत होनेवाला है जिसे लोग सुन्दर न कहकर कदर्य कहते हैं और उससे घृणा करते हैं। (२) भोजनकालमें भोजन प्रिय लगना अथवा खेल-तमाशे आदि-का सुख उतने ही कालतक प्रतीत होता है जबतक कि उसका संग रहता है, पीछे वह सुख नहीं रहता—ऐसे सुखको आपात आह्लाद कहते हैं। (३) मेहनत करके धनोपार्जन, व्यायाम करके

बलोपार्जन आदिमें जो सुख होता है, वह प्रकृतिविषयजन्य परिणामका सुख कहलाता है। (४) मादक वस्तु आदिके सेवनमें सुख मानना; जिसमें सांसारिक सुखके न होते हुए भी केवल अभ्यासमात्रसे सुखकी प्रतीति होती है, प्राकृतिक विषय-अभ्यास-जनित सुख कहलाता है। इस प्रकार सांसारिक सुखोंके कुछ भेदोंका वर्णन किया गया, परन्तु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

जिसका परिणाम दुःख है, जो ताप देनेवाला है और जहाँ गुण-वृत्तियोंका विरोध रहता है वह सब ही विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें दुःखरूप ही है।

महर्षिके इस कथनको और भी स्पष्ट समझिये। उदाहरणके लिये एक वस्तुका भेद दिखलाया जाता है। धन आजकल संसारमें सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, अतएव इस धनमें ही उपर्युक्त सूत्रके अर्थको समझनेकी चेष्टा कीजिये।

धनका परिणाम—प्रायः धनका परिणाम कलह, कष्ट, मामला-मुकदमा, वैर, द्वेष, चोर-डाकुओंका भय, प्राणनाश और अनेक प्रकारके प्रमादोंका उत्पादन है। अन्तमें धनका वियोग भी होता है। भर्तृहरिजी कहते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

(वैराग्यश० १२)

बहुत कालसे सेवन किये हुए विषयादि अवश्य जानेवाले हैं, उनके वियोग होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है, पर फिर भी मनुष्य स्वयं उनका त्याग नहीं करते। जब विषयादि मनुष्यको स्वयं त्यागकर चले जाते हैं तो उसे बहुत दुःख होता है। जो मनुष्य इस विषयमें सदा सावधान रहता है कि एक दिन विषय-भोग हमें अवश्य त्याग देंगे (इसलिये इनका सङ्ग नहीं करना चाहिये) वह अनन्त सुख और शान्तिको प्राप्त होता है। गोस्वामीजी भी जीवको चेतावनी देते हुए कहते हैं—

मन पछितैहै अवसर बीते।
अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर ! तू न तजे अबही ते ॥(विनयपत्रिका)

अब धनके तापको समझिये। जिसके पास धन रहता है, वह उसको सुरक्षित रखनेके लिये सदैव चिन्तित रहता है। धन कम न हो जाय, चोर-डाकू उसे न ले जायँ, हानि न हो, कहीं धन किसीमें डूब न जाय—इत्यादि सन्ताप धनवालेको सदैव अन्तः-करणमें जलाया करते हैं।

धनके संस्कार भी दुःखदायी होते हैं। धनी पुरुष जब निर्धन हो जाता है तब वह अपनी सम्बन्धी धनका पूर्व अवस्थाका स्मरण करके अति दुःखी होता है। अब गुण-वृत्ति-विरोधको देखिये। धनके द्वारा अन्तःकरणमें विभिन्न प्रकारके सुख-भोगकी वृत्तियाँ पैदा होती हैं। कभी सात्त्विक सुखके लिये धन-व्ययकी इच्छा होती है, कभी राजस-सुखके लिये और कभी तामस-सुखके लिये ! इससे बहुधा अन्तःकरणमें इन वृत्तियोंमें युद्ध भी हुआ करता है। वृत्तियाँ अपनी-अपनी ओर मन, बुद्धिको खींचने लगती हैं। क्या करें

और क्या न करें, इस बातके निर्णय करनेमें बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इसीको गुण-वृत्ति-विरोध कहते हैं।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिके सूत्रको समस्त सांसारिक वस्तुओंपर घटाकर यदि हम देखें तो सबका स्वरूप दुःखरूप ही प्रतीत होगा। सुख-दुःखका एक और विवेचन पाठकोंके सामने रक्खा जाता है। वस्तुतः समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ न सुखरूप हैं और न दुःखरूप। वस्तुओंमें सुख-दुःखकी भावना अपने-अपने कल्पित भावोंसे सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ अग्निको लीजिये। शीतकालमें अग्नि सुखद मालूम होती है, परन्तु अत्यधिक मात्रामें वह शीतकालमें भी सुखद नहीं होती। ग्रीष्म-ऋतुमें तो वह कष्टदायक ही हो जाती है। इसी प्रकार मलिन-से-मलिन वस्तु भी एकके लिये दुःखरूप है तो दूसरेके लिये वही सुखरूप देखी जाती है। एक ही रूप एक कालमें दुःखरूप, दूसरे कालमें सुखरूप, कम मात्रामें सुखरूप तो अधिक मात्रामें दुःखरूप, अथवा कम मात्रामें दुःखरूप तो अधिक मात्रामें सुखरूप, एक जीवको दुःखरूप तो दूसरेको सुखरूप होता है। जगत्में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सबको सब कालमें, सब रूपमें, सब अवस्थामें सुखरूप ही हो अथवा सब काल, सब रूप, सब अवस्थामें सबको दुःखरूप हो। यह भी कहना ठीक नहीं कि एक ही वस्तु दुःखरूप है और सुखरूप भी है। अतएव यह कहना पड़ता है कि प्राकृतिक कोई भी वस्तु या क्रिया न सुखरूप है और न दुःखरूप। वस्तुएँ केवल काल्पनिक भावनासे सुखरूप या दुःखरूप भासती हैं।

गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे समस्त जागतिक पदार्थोंकी यही दशा प्रतीत होगी। जो इस सुख-दुःखके तत्त्वको समझकर अनुभवमें लाता है वह कभी सुख-दुःखोंके उलझनोंमें नहीं पड़ता। न कभी सुखी या दुःखी ही होता है। उसका सच्चा आनन्दमय जीवन हो जाता है। जैसा गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ (५।२०)

जो पुरुष प्रियको प्राप्तकर हर्षित नहीं होता और अप्रियको प्राप्तकर उद्विग्न नहीं होता, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके एकीभावमें सदा स्थित है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
(गीता १२।१७)

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

वास्तविक सच्चे सुखका विवेचन फिर कभी अवसर मिलनेपर किया जा सकता है। इस समय केवल इतना ही निर्देश करना पर्याप्त होगा कि जो सच्चा सुख है वह सबको, सब कालमें, सब अवस्थामें सुखरूप होता है, उसमें अल्पता या अधिकता नहीं होती, वह सदा परिपूर्ण है, नित्य है। उस सुखके रहते न तो किसी भी प्रकारका दुःख आ सकता है और न किसी अभावकी ही अनुभूति होती है।

शरणागतितत्त्व

भक्तिके अन्यान्य साधनोंमें शरणागति सर्वोत्तम साधन माना जाता है। इसीको भक्तोंने आत्मनिवेदन, आत्म-समर्पण अथवा प्रपत्ति कहा है। केवल भक्तिके साधनमें ही इसकी विशेषता नहीं है अपितु जितने प्रकारके कल्याणकारी साधन हैं, उन सबमें प्रधान तत्त्व शरण है। कल्याण चाहनेवालेका साधन आरम्भहीसे शरणागतभावको लेकर शुरू होता है। जैसे मुमुक्षुओंके लिये श्रुतिमें इस प्रकारका वर्णन आता है—'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' यहाँपर, अपने कल्याणके लिये श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास समिधा लेकर जानेका आदेश किया गया है। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी गीतामें इसी बातको समर्थन करते हुए कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'इसलिये हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये

हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

इससे यह पता लगता है कि अपने श्रेयके लिये प्रथम गुरु-चरणोंकी शरण ली जाती है, फिर गुरुद्वारा उपदिष्ट होकर परमात्मामें आत्मसमर्पण किया जाता है अर्थात् सद्गुरु ऐसे शरणागत शिष्योंको भगवान्के चरणकमलोंके आश्रयमें पहुँचाकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है । सच्चा गुरु वही है जो अपने आश्रित जनोंको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दे । यदि कोई गुरुकी शरण प्राप्त करनेपर भी भगवदाश्रयसे वञ्चित रहे तो यही समझना चाहिये कि या तो गुरुकी शरणप्राप्तिमें त्रुटि है अथवा सच्चे योग्य गुरुका अभाव है । शिष्यका कर्तव्य शुद्धान्तःकरणसे—निष्कपटभावसे गुरुकी शरणमें जाना और गुरुका कर्तव्य अपने आश्रितको भगवत्-शरणमें पहुँचा देना है । अतएव मुमुक्षुके लिये शरणका साधन आरम्भसे ही आवश्यक है ।

यह साधन सभी श्रेणीके साधकोंके लिये प्रधान माना जाता है,—चाहे वह सांख्ययोगी, कर्मयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी अथवा भक्तियोगी हों । सभी मार्गोंमें शरणकी प्रधानता है—आरम्भ और उपसंहार दोनों ही शरणमें होते हैं । प्रत्येक मार्गके उपक्रम तथा उपसंहारमें शरणका तत्त्व छिपा हुआ है । यहाँपर इसका विवेचन प्रसंग-विस्तारके भयसे स्थगित करके प्रस्तुत विषय 'गीतोक्त शरणागति' के विषयमें ही अपना मन्तव्य पाठक-पाठिकाओंकी सेवामें उपस्थित करना है । उक्त विषयपर विचार करनेके पहले यह भी कह देना आवश्यक है कि शरणागतिके तत्त्वको वही

जानते हैं जिनके वास्तवमें भगवान्‌को छोड़कर कोई अन्य शरण नहीं है। मैं तो केवल शिक्षार्थीकी भाँति अपने साधनमें सहायता-की दृष्टिसे इस विषयकी चर्चाके लिये उद्यत हुआ हूँ और एक बालकके सदृश अपने विचारोंको आपलोगोंके चरणोंमें उपस्थित करता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीताका उपक्रम शरणागतिसे है और समाप्ति भी शरणागतिमें ही है—दूसरे शब्दोंमें यों भी कह सकते हैं भगवान् श्रीकृष्णकी जगत्प्रसिद्ध शिक्षाका बीज शरणागति ही है। भारतकी समरभूमिमें जब अर्जुन व्यामोहके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और उन्हें अपने मोहके नाशका कोई उपाय न सूझ पड़ा, तब उन्होंने अखिल जगद्गुरु श्रीनन्दनन्दन श्यामसुन्दरके चरणों-का आश्रय लिया—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २।७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ (मैं) आपसे पूछता हूँ। जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये (क्योंकि) मैं आपका शिष्य हूँ, (इसलिये) आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

जब इस प्रकार अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण करते हैं, तब करुणासागर व्रजेन्द्रनन्दन अनेक युक्तियों और

प्रमाणोंसहित उपदेश देते हुए अन्तमें अपने उपदेशका इस प्रकार उपसंहार करते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

'सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

यहाँ भगवान्‌की शिक्षाका पर्यवसान शरणागतिमें है, यही देवकीनन्दनका चरम उपदेश है—इसके बाद केवल अधिकारी तथा गीतामाहात्म्यकी चर्चा है। उपर्युक्त श्लोकमें 'शरण्य' (शरण लेनेके योग्य) एकमात्र अखिल गुणनिधि वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं, और शरणागत (शरण होनेवाले जीव उपलक्षित) श्रीअर्जुन हैं, फल—सम्पूर्ण पापोंका नाश तथा कल्याणकी प्राप्ति है और साधन 'शरण' है—

अब शरण शब्दके अर्थके विषयमें कुछ विचार किया जाता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें 'शरण' शब्द चार जगह आते हैं। यथा-क्रमसे उनका अर्थ यह होता है—

(१) गीता अ० २ श्लो० ४९ में 'शरण' शब्दसे 'आश्रय' लिया जाता है।

(२) गीता अ० ९ श्लो० १८—यहाँ 'शरणम्' शब्दका अर्थ—एकमात्र भगवान् शरणयोग्य—अथवा शरणरूप भगवान् है।

(३) गीता अ० १८ श्लो० ६२—यहाँ जो 'सर्वभावेन शरणं गच्छ' कहा है इसका तात्पर्य यह है कि सब प्रकारसे अर्थात् मन, वाणी और शरीरसे भगवत्-शरणको प्राप्त हो ।

(४) गीता अ० १८ श्लो० ६६ में जो 'मामेकं शरणं व्रज' कहा है, उसका अर्थ है कि केवल एक मेरी ही शरण ले ।

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीतामें शरणागतका वर्णन दूसरे शब्दोंमें कई स्थानोंपर मिलता है । जैसे—

१—गीता अ० ७ श्लो० १४ 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' जो मेरी शरणमें आता है वह मायाको उल्लंघन कर जाता है अर्थात् संसारसे तर जाता है ।

२—गीता अ० ७ श्लो० १५ 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः' दुराचारी नराधम मूढ़ लोग मेरी शरण नहीं लेते ।

३—गीता अ० १५ श्लो० ४ 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' उस आदिपुरुष नारायणकी शरण हूँ ।

इत्यादि अनेक वचनोंसे शरणकी महिमा गीतामें वर्णित है । शरणागतिके साधनमें कहीं भी स्वाधीनता नहीं रहती और न कुछ छिपा ही रहता है । पूर्णतया उन्मुक्त हृदयसे आत्मसमर्पणका नाम 'शरण' है । जबतक शरणागत भक्त किसी भी अंशमें अपनेको स्वतन्त्र, किसी भी वस्तुको अपनी तथा किसी भी क्रियामें अपने कर्तृत्वाभिमानका भाव रखता है, तबतक शरणागतिमें त्रुटि ही है । शरणागत भक्त तो अपने आपसहित अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देता है—'सर्वभावेन शरणं गच्छ ।' और वह

शरणागत भक्त ऐसा बन जाता है जैसे जड़ वस्तु अपनी सत्ता, ममता, अहंताका कुछ भी ध्यान नहीं रखकर चेतनके अधीन काम करती है, वैसे ही शरणागत भक्त प्रभुके अधीन हुआ अपनी सत्ता, ममता, अहंताको भुलाकर प्रभु जैसे चलाते हैं, वैसे ही चलता है। वह प्रभुके हाथकी कठपुतली बन जाता है। उस समय उस पुरुषका व्यवहार ऐसा ही होता है जैसा इस उक्तिमें कहा है—

'त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'

वास्तवमें जो भगवत्-शरण नहीं हैं, उनका यह कथन दम्भमात्र है। जो वास्तवमें भगवान्की शरण हैं, वह कुछ कहते नहीं, पर उनका व्यवहार इस उक्तिके अनुरूप ही होता है। अतएव शरणका अर्थ प्रभुके भावानुसार अथवा आज्ञानुसार कार्यों-का करना तथा कर्तव्याकर्तव्यमें अपनी बुद्धिके निर्णयको त्यागकर भगवत्-निर्णयको ही मान्य करना है। गीतामें अर्जुनने भी शरण शब्दसे यही भाव प्रकाशित किया है, जैसे—

व्रजजनवल्लभ कमलनेत्र श्रीकृष्णद्वारा वर्णित समस्त उपदेशोंका सार यही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

वैष्णवोंने इसीको सर्वोत्कृष्ट उपदेश अथवा सर्वोच्च श्लोक कहा है। यदि कोई यह जानना चाहे कि समस्त गीतोक्त उपदेशका सार यह श्लोक कैसे है तो उत्तरमें भगवत्-वचन ही प्रमाण है। गीता अ० १८ श्लो० ६४ में भगवान्ने कहा है कि—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

'हे अर्जुन ! [illegible] भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनोंको (तू) फिर भी सुन (क्योंकि तू) मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन (मैं) तेरेलिये कहूँगा ।' इस उपर्युक्त श्लोकमें 'गुह्यतमम्' शब्द दिया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सब उपदेशोंका सारभूत उपदेश आगे कहनेवाले हैं और उसीको भगवान्‌ने अ० १८ के ६५ तथा ६६ के श्लोकमें कहा है ।

भगवान् यहाँ अपने उपदेशको समाप्त करके अर्जुनकी परीक्षाके लिये जब अध्याय १८ के श्लोक ७२ में पूछते हैं तब अर्जुन संक्षेपमें एक ही शब्दमें उस सर्वोत्कृष्ट श्लोकका अर्थ अथवा शरणका तात्पर्य बतलाते हैं—'करिष्ये वचनं तव' (अ० १८ श्लो० ७३) 'आपकी आज्ञापालन करूँगा ।' बस, संक्षेपमें 'शरणका' सब तात्पर्य इसके अन्दर आ जाता है । इस स्थलपर भगवान्‌ने भी अपने उपदेशको समाप्त कर दिया, क्योंकि अब अर्जुन भगवान्‌के भावको ठीक-ठीक समझ गये । सच्चे अनन्यशरण भक्तका अपने लिये अपना कर्तव्य अथवा उसे अपने उद्धारकी चिन्ता कुछ भी नहीं रह जाती । वह तो एक बाजेके समान है, बजानेवाला जिस प्रकार चाहे वैसे ही बजा सकता है, जिस रागको वह निकालना चाहता है वही राग निकलता है । अपने हानि-लाभ, जीवन-मरण, मान-अपमानकी चिन्ता उसे नहीं रहती । महात्मा मंगलनाथजी स्वामी कहा करते थे कि 'कल्याणके अनेक मार्ग हैं और सब ही ठीक हैं किन्तु उन सबमें शरणागतिका मार्ग अलौकिक है ।' अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इसे अलौकिक क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि अन्य मार्गोंमें साधनका भार और

कर्तव्य साधकके सिरपर रहता है। यहाँ शरणागतिमें सब भार अपने प्रभुके सिरपर रहता है। वहाँ अपनी चिन्ता स्वयं करनी पड़ती है, किन्तु यहाँ शरणागत भक्तकी चिन्ता भगवान्‌को रहती है; भक्त तो निश्चिन्त रहता है। इसी आशयपर एक भक्तने कहा है—'व्यास भरोसे कुँवरके सोवत पाँव पसार' इसके अतिरिक्त वहाँ साधक अज्ञानजन्य ममतामें आसक्ति रहनेसे गिर भी जाता है; पर यहाँ शरणागत भक्तके रक्षक स्वयं त्रिभुवनपति भगवान् रहते हैं, फिर गिरनेका भय कैसे हो सकता है? यहाँ तो शुकदेव स्वामीके यह वचन चरितार्थ होते हैं 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः' 'आपके द्वारा रक्षित हुए निर्भय विचरते हैं।' शरणागत भक्तका रक्षण प्रभु उसी प्रकार करते हैं जैसे एक छोटे स्तन्यपायी बालककी रक्षा और देखभाल जननी करती है। माता भी परिमित शक्तिवाली होनेके कारण सर्वथा रक्षा नहीं कर सकती, पर यहाँ तो अपरिमित शक्तिवाले रक्षक हैं। अतएव शरणागति कल्याणका अलौकिक मार्ग है। भगवान्‌की शरण नीचातिनीच भी ले सकता है। सच्चे हृदयसे शरण लेनेके बाद कोई दुराचारी नहीं रह सकता। इधर भगवान् भी नीचातिनीचको शरण देनेसे मुख नहीं मोड़ते, अतएव निर्भय होकर अपने पापोंके समूहको आगे करके विभीषणकी भाँति प्रभुके चरणोंमें अपनेको समर्पण कर देना चाहिये, जैसे विभीषणजीने कहा है—

श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन, सरन सुखद रघुबीर॥

बोलो शरणागतवत्सल भगवान्‌की जय!

कर्मतत्त्व

सांसारिक सभी जीवोंको कभी-न-कभी और किसी-न-किसी प्रकार रोगसे ग्रस्त होना ही पड़ता है । मनुष्येतर प्राणियोंके लिये तो कुछ कहना नहीं है पर मनुष्योंको किसी प्रकार भी रोग आकर प्राप्त होनेपर घबराना नहीं चाहिये । क्योंकि जीवोंको जो भी रोग आकर प्राप्त होता है वह अपने किये हुए कर्मानुसार ही प्राप्त होता है, चाहे उस रोगका कारण दृष्ट हो या अदृष्ट । भगवान् स्वयं किसीको सुख या दुःख नहीं पहुँचाते । जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, सब अपने किये हुए कर्मानुसार भगवान्द्वारा प्रेरित होता है । यदि यह प्रश्न उपस्थित हो कि सुख-दुःख कौन देता है तो उत्तरमें कहना है कि देनेवाले भगवान् ही हैं पर जीव जैसा कर्म करता है तदनुसार ही भोग प्राप्त होता है। कर्म स्वयं तो जडरूप है और क्रियाके साथ-साथ स्वरूपसे नाश भी हो जाता है । कर्म स्वयं अपने-आप फल नहीं देता, परन्तु निष्फल भी नहीं जाता । बीजरूपसे संस्कार छोड़ जाता है । तदनुसार भगवान्-द्वारा उसका फल मिलता है । जैसे कोई चोरी करता है तो चोरी-रूप कर्म स्वयं दण्ड नहीं देता परन्तु राजा उस चोरीका फलरूप दण्ड देता है । यहाँ यदि कोई कहे कि भगवान् दण्ड देनेकी चेष्टा

क्यों करते हैं? और दण्ड न देनेसे उनको क्या हानि है? दण्ड न दें तो लोगोंको आराम और सुख हो सकता है। इसके दो उत्तर हैं—

(१) यदि अशुभ कर्मोंका फल दुःख न दिया जाय तो शुभ कर्मोंका फल सुख भी (न्यायसे) नहीं दिया जा सकता। जब शुभ कर्मोंका फल सुख न मिलेगा तो लोग शुभ कर्म करेंगे ही क्यों? लोगोंकी शुभ कर्मोंमें रुचि भी न रहेगी। इसका फल यह होगा कि संसारमें सब लोग दुष्कर्म करने लगेंगे और बड़ी भारी अशान्ति फैल जायगी। इसलिये कोई भी समझदार मनुष्य यह नहीं चाहेगा कि भगवान् अशुभ कर्मोंका फल दुःख और शुभ कर्मोंका फल सुख न दें। इस प्रकारसे कृतकर्मनाशरूप दोष प्राप्त होनेसे आगामी जन्ममें सुख-दुःख-प्राप्तिका भय जीवोंको नहीं रहेगा। कर्म-फलके अभावके कारण आगामी जन्ममें सभी जीवोंके बल, बुद्धि, विचार, आयु, सम्पदा और भोगादिमें भी विषमता नहीं रह सकती परन्तु वास्तविक रूपसे सृष्टिमें विषमता अनादिकालसे ही चली आ रही है।

दूसरा हेतु यह है कि जीव अशुभ कर्मोंका फल दुःख भोगकर अशुभ कर्मोंके संस्कारोंसे मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है। जैसे किसी कपड़े या बर्तनपर मैल चढ़ जाता है तो वस्त्रको जबतक न पछाड़ा जाय और बर्तनको ईंट या रोड़ेसे रगड़कर मला न जाय तबतक साफ नहीं होता, वह मलीन और बदसूरत ही रहता है परन्तु पछाड़नेसे और माँजनेसे निर्मल हो जाता है, वही दशा जीवकी है। भगवान् इस जीवको पवित्र और निर्मल

बनानेके लिये उसके कर्मानुसार सुख और दुःख देते हैं। जैसे शरीरमें कहीं फोड़ा या घाव होनेसे कष्ट होता है और उसको चिरानेसे एक दफा अवश्य कुछ तकलीफ बढ़ती है परन्तु आगे चलकर आराम हो जाता है। यदि चिराया न जाय तो तकलीफ बहुत ज्यादा बढ़कर उसकी मृत्यु भी हो सकती है। इसी प्रकार पापकर्मरूप फोड़ेको रोगभोगरूप चीरा लगाकर शरीरको नीरोग और शुद्ध करना है। इसीलिये कहा जाता है कि जीवोंके लाभके लिये ही भगवान्‌ने रोगोंकी उत्पत्ति की है। जगत्‌में जो कुछ भी सुख या दुःखरूपमें प्राप्त होता है सो सब भगवान्‌की मर्जीसे ही होता है। भगवान्‌का किसीसे कुछ द्वेष तो है ही नहीं। यदि कोई जीव भगवान्‌से द्वेष भी करता है तो भी भगवान् उससे द्वेष नहीं करते वरं उसका हित ही करते हैं। मनुष्य स्वयं अपने हितको (अर्थात् किस कार्यसे हित होगा) जितना नहीं जानता उससे अधिक और पूर्णरूपसे भगवान् जानते हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं और मनुष्य अल्पज्ञ हैं। इस कारणसे ही विश्वास करना चाहिये कि भगवान् मेरे लिये जो कुछ भी भेजते हैं सो सब मेरे हितके लिये ही भेजते हैं। किसी अन्यको सुख और अपनेको दुःख मिलते देख-कर भी चिन्ता, शोक और दुःख नहीं करना चाहिये। जैसे एक अस्पतालमें अनेक रोगी हैं। वहाँका प्रधान डॉक्टर किसीको निराहारी रखता है, किसीको साबू, किसीको रूखी रोटी, किसीको फल, किसीको दूध और किसीको मीठा देनेकी व्यवस्था करता है। यदि इसमें कोई रोगी दुःख माने कि डॉक्टरने मुझे निराहारी रक्खा या घटिया भोजन दिया और दूसरेको अच्छा भोजन दिया तो

रोगोंकी भूल है। प्रधान डॉक्टर जिसके लिये जो कुछ भी व्यवस्था करता है वह सब उसके हितके लिये ही करता है। यही व्यवस्था हमलोगोंकी है। यदि संसारमें भगवान् हमारे लिये तो दुःख और रोग आदि भेजते हैं और दूसरोंके लिये सुख भेजते हैं तो इसे अनुचित और अन्याय समझकर जो व्यक्ति अप्रसन्न होते हैं उनका दुःख घटता नहीं। बल्कि मानसिक चिन्ता बढ़ती ही है। और होता वही है जो प्रभुकी मर्जी है। इधर, जो मनुष्य भगवान्‌के किये हुए विधानमें प्रसन्न रहते हैं उनके अन्तःकरणमें रोग आदिका क्लेश घट जाता है, उन्हें व्याकुलता नहीं होती तथा वे दुःखमें भी शान्त रहते हैं।

यदि किसीको इस बातका भय हो कि रोग आदिसे शरीरनाशकी सम्भावना है तो ऐसा होनेपर भी चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं है। क्योंकि आयुकी अवधि समाप्त हुए बिना शरीर नाश नहीं हो सकता और आयुकी अवधि समाप्त हो गयी है तो नाश होनेसे कोई बचा नहीं सकता। और आयुकी अवधि एक दिन समाप्त होनेवाली ही है, यदि नीरोग-अवस्था भी है और आयुकी अवधि समाप्त हो गयी तो तुरन्त ही मरना होगा। और यदि रोगग्रस्त-अवस्था भी है पर आयुकी अवधि समाप्त नहीं हुई तो कष्ट भोगते हुए भी उस समय मृत्यु नहीं हो सकती।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

(२।२६-२७)

'यदि तू इसको सदा जन्मने और सदा मरनेवाला भी माने तो भी हे अर्जुन ! इस प्रकार शोक करनेके योग्य नहीं है क्योंकि जन्मनेवालेकी निश्चित मृत्यु और मरनेवालेका निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ। इससे तू बिना उपायवाले विषयमें शोक करनेके योग्य नहीं है।'

मनुष्यका अचानक मरनेकी अपेक्षा बीमार रहकर मरना अच्छा है। क्योंकि बिना नोटिसके वारंट आनेकी अपेक्षा नोटिस मिलकर वारंट आना अच्छा है जिसमें अपनी रक्षाका कुछ उपाय करनेका उसे मौका मिल जाता है। यदि मृत्युके पूर्व ही बीमारी प्राप्त हो गयी तो अपने कल्याणके लिये यत्न करनेका अच्छा अवसर मिल गया। अर्थात् पहलेसे ही नोटिस मिल गया कि भगवान्‌का भजन, ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

यदि इस बातका भय हो कि शरीर छूटनेके बाद न मालूम अन्य किस नीच योनिकी प्राप्ति होगी तो उससे बचनेका उपाय भी भगवत्‌चिन्तन ही है।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके पाँचवें और छठें श्लोकमें कहा है कि—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है वह मेरे (साक्षात्) स्वरूपको प्राप्त होता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है उस-उसको ही प्राप्त होता है परन्तु सदा उसी भावको चिन्तन करता हुआ।'

यदि अन्तकालमें व्यथा, कष्ट और भय लगता हो तो भी भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताके १४ वें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

'इस ज्ञानको धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते हैं।'

यदि शारीरिक कष्ट असह्य है तो किसी भी मनुष्यकी सामर्थ्य नहीं है कि वह दैवी दण्डको दूर कर सके। केवल जगत्-पिता, दीनबन्धु भगवान्‌के सम्मुख सरल और विनयभावसे रुदन करके निवेदन करना चाहिये एवं उसीको स्मरण रखना चाहिये। भगवान् चाहें तो सब कुछ कर सकते हैं। यदि कल्याणकी अत्यन्त

इच्छा है तो उसका भी एकमात्र उपाय भगवत्-आश्रय ही है। भगवान् श्रीमद्भगवद्गीताके १२ वें अध्यायके सातवें श्लोकमें कहते हैं कि—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

यदि अपने किये हुए पापोंको याद करके डर लगता हो तो भी भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये। जैसा कि भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीता-के अठारहवें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें कहा है कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

अन्तकालमें भगवान् याद रहें, ऐसी चाह हो तो भगवत्-चिन्तनमें वृद्धि करनी चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके श्लोक ६ में भगवान्‌ने यही कहा है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं।

यदि अपने साधनकी तुच्छता और दुराचरणोंकी अधिकता देखकर डर लगता है तो उसका एकमात्र उपाय प्रभुशरण ही

है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायके बासठवें श्लोकमें कहा है कि—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

सभी प्रकारकी युक्तियोंसे यही सिद्ध होता है कि, बिना भगवत्-कृपा, भगवत्-आश्रय और भजनके सुख और शान्तिका कोई भी उपाय नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> सीतापति रघुनाथजी, तुम लग मेरी दौर।
> जैसे काग जहाजको, सूझत और न ठौर॥

शरीरका नाश या रोग चिन्ताका विषय नहीं है। चिन्ताका विषय तो भगवान्‌की अप्राप्ति ही है। भगवान्‌के भक्त उसीकी चिन्ता किया करते हैं।

> **चिन्ता तो हरि नामकी, और न चितवे दास।**
> **जो कछु चितवे नाम बिन, सो हि कालकी फाँस॥**

यदि आप कहें कि चिन्ता तो होती है पर भगवान्‌का भजन नहीं होता तो यह समझकी भूल है। भगवान्‌के भजनकी चिन्ता नहीं होती, संसारकी ही होती है। यदि भजनकी चिन्ता हो

अथवा भगवान्‌के ध्यानकी चिन्ता हो तो जो भगवान्‌के भजन-ध्यानकी चिन्ता है सो तो भजन ही है। जिसको जिस बातकी चिन्ता है उसको उस बातकी स्मृति अपने-आप होती है।

आप रोगकी या क्लेशकी चिन्ता छोड़कर चिन्तामणि भगवान्‌को चिन्ता कीजिये, जिसकी चिन्तासे सब चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं।

तुलसी चित चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने।

एक बात और याद रखनी चाहिये। वह यह कि अपने कल्याणका विश्वास रखना चाहिये। जिसको अपने कल्याणका निश्चय विश्वास है उसके कल्याणमें संशय नहीं है। जो मनुष्य अपने कल्याणमें संशय मानता है उसके कल्याणमें संशय ही रहता है। यदि कोई कहे कि बिना साधनके कल्याण कैसे माना जा सकता है? तो उसके लिये यह उत्तर है कि भगवत्-कृपा-बलसे एक नीचातिनीच पुरुषका भी कल्याण हो सकता है। परन्तु साधनके अभिमानी एक परिश्रमीको कल्याणमें देर लग सकती है। इसलिये अपनी बुद्धि—विचारशक्तिको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण करके एकमात्र भगवान्‌के भरोसे अपनेको छोड़ देना चाहिये। जब किसी बातकी चिन्ता हो उसी समय सचेत होकर प्रसन्नमनसे भगवान्‌से कहना चाहिये 'प्रभो! जो कुछ आप करते हैं सो ठीक करते हैं और इसमें मैं मूर्खतावश आपको नहीं पहचानकर शोक-दुःख करता हूँ। प्रभो! क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये!'

श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय ७ श्लोक ७ में कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

'हे धनञ्जय ! मेरे अतिरिक्त किञ्चित्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण (जगत्) सूत्रमें (सूत्रके) मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।'

सर्वत्र सर्वरूप भगवान्‌को देखकर बारंबार प्रसन्न होना चाहिये। चाहे जैसा भी दुःख-सुख, हानि-लाभ, रोग-शोक, मान-अपमान आकर प्राप्त हो, भगवत्‌रूप समझकर ही उसका आलिङ्गन करना चाहिये। एक भक्तने कहा है—

देख दुःखका वेश धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥
नाथ ! छिपा लो तुम मुँह अपना चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें जग सारेमें॥
रोग, शोक, धन-हानि, दुःख, अपमान घोर, अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम, सब ही है तुममें अथवा सब तुम्हरे ही वेश॥
तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब तब फिर मैं किसलिये डरूँ।
मृत्युसाज सज यदि आओ तो चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥
दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःख-वेश धारणकर नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥